हमारा सांस्कृतिक दर्प

एम. एन. राय

वाग्देवी
पॉकेट
बुक्स

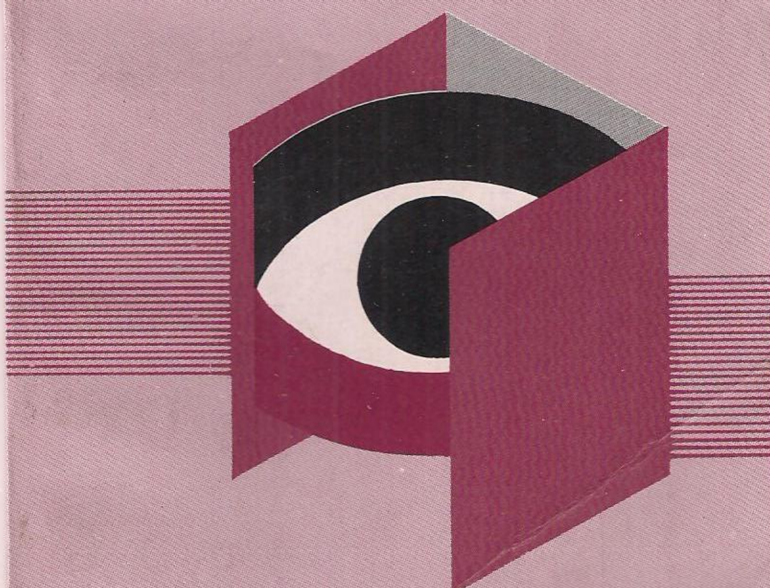

एम. एन. राय

एम. एन. राय (1887-1954 ई.) अनेक दृष्टियों से विलक्षण व्यक्ति थे। उन्होंने कार्य और विचार दोनों क्षेत्रों में अपनी विशिष्टता की छाप छोड़ी है। कार्यक्षेत्र में वे निष्ठावान कर्मठ क्रान्तिकारी थे। विचार क्षेत्र में उनका विकास मौलिक सामाजिक दार्शनिक के रूप में हुआ। उनका राजनीतिक जीवन तीन चरणों से गुज़रा है। जीवन का आरम्भ उत्कट राष्ट्रवादी के रूप में हुआ, बाद में वे उत्कट कम्युनिस्ट हुए और अन्त में वे सृजनात्मक रेडिकल ह्यूमनिस्ट विचारक के रूप में विख्यात हुए।

मैक्सिको में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कर सोवियत संघ के बाहर कम्युनिस्ट पार्टी के वे प्रथम संस्थापक बने।

उपनिवेशों के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों में पूंजीवादी वर्गों की भूमिका के प्रश्न पर राय का लेनिन से मतभेद था। कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ के दूसरे सम्मेलन में लेनिन और एम. एन. राय दोनों की थीसिसों को स्वीकार कर लिया गया। एम. एन. राय कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ की नीति-निर्धारण समितियों में उच्च स्थान पर रहे। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का उन्हें संस्थापक माना जाता है।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद एम. एन. राय ने कम्युनिज्म और मार्क्सिज्म से भिन्न अपने मौलिक विचारों को प्रकट किया। मार्क्सवाद से उनका मुख्य मतभेद मानव-इतिहास में विचारों की भूमिका और नैतिक मूल्यों पर ज़ोर देने के प्रश्न पर था। उनके विचारों को 'रेडिकल ह्यूमनिज्म के 22 सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने 'नव मानववाद' का घोषणा-पत्र भी जारी किया।

एम. एन. राय बौद्धिक क्षेत्र में महान् विचारक थे। वे सदैव मौलिक विचारों के स्रोत रहे। उनके जीवन में स्वतंत्रता ही उनकी मौलिक प्रेरणा रही और उसी के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया।

अनुक्रम

अनुवाद के दो शब्द	
पुनर्जन्म	9
सिद्धपुरुषों का मनोविज्ञान	35
कट्टर राष्ट्रवाद की विचारधारा	57
मार्क्स और मनु	74
भारत का संदेश	111
भारतीय पुनर्निर्माण की पूर्व शर्त	123

हमारा सांस्कृतिक दर्प

संस्कृति दर्शन

एम. एन. राय

अनुवाद

आर. के. भट्ट

वाग्देवी
पॉकेट
बुक्स

वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास, चन्दनसागर
बीकानेर 334001

© दी इण्डियन रिनेसाँ इन्स्टीट्यूट

प्रथम संस्करण : 1998

मूल्य : पचीस रुपये मात्र

आवरण : चेतनदास

मुद्रक : सांखला प्रिण्टर्स
सुगन निवास, चन्दनसागर
बीकानेर 334001

ISBN 81-85127-74-3

HAMARA SAMSKRITIK DARPA *(Indian Culture and Philosophy)* by M. N. Roy

Rs. 25.00

अनुवादक के दो शब्द

काफ़ी समय हुआ मैंने एक लेख पढ़ा था, 'भारतीय मूल विचारकों में एम. एन. राय के बाद डॉ. लोहिया का नम्बर आता है'। उसके पहले मैंने एम. एन. राय के बारे में न पढ़ा था और न सुना था। अतः उनके बारे में जानने की उत्कंठा बढ़ी। धीरे-धीरे उनका अधिकांश साहित्य पढ़ गया और उनकी वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक शैली से इतना ज़्यादा प्रभावित हुआ कि अपने प्राचीन साहित्य में व्याप्त व्यर्थ की धारणाओं व परम्पराओं से विरक्ति सी पैदा हो गयी।

राय ने टैगोर की भांति कभी स्कूल का मुँह नहीं देखा। वे राहुल सांकृत्यायन व रासबिहारी बोस की तरह 14-15 साल की उम्र से ही स्वदेश प्रेम से प्रेरित हो अपने देश को आज़ाद कराने हेतु देशदेशान्तर छानते रहे। पहले क्रान्तिकारी फिर राजनीतिज्ञ और बाद में दार्शनिक। उनका कहना था कि किसी भी सामाजिक क्रान्ति के लिये पहले एक दार्शनिक क्रान्ति का होना आवश्यक है। भारत जैसे पिछड़े और मूढ़ देश के लिये वैसे ही निरन्तर सुधार और पुनर्निर्माण की आवश्यकता है, जैसे विश्व इतिहास में अन्य देशों में हुआ है। पहले ग़ुलामी प्रथा का अन्त हुआ, फिर पुरोहिती और सामंती प्रथा का। अब पूंजीवादी व्यवस्था का अवसान ज़रूरी है। क्योंकि समय के साथ-साथ पुराने मूल्य और मूल्यांकन अपना औचित्य खोते चलते हैं। स्वतन्त्रता और सुधार की इसी भावना से हमारा समाज भी निरन्तर सुखद और सुन्दरतम होता जायेगा और इसी भावना की व्यावहारिक पूर्ति ही क्रान्ति कहलायेगी।

राय का मत था कि लोकतन्त्र में राजनैतिक शक्ति किसी राजनैतिक दल के हाथ में न होकर प्राइमरी इकाइयों (पीपुल्स कमेटीज़) के हाथों में होनी चाहिये। क्योंकि जाहिल और जड़ भारत में दलीय राजनीति अवैधानिक शक्ति-केन्द्र में बदल जायेगी। इसीलिये उन्होंने रेडिकल

ह्यूमनिज़्म की थीसिस तैयार की, जिसमें सहकारिता पर आधारित अर्थव्यवस्था को महत्त्व दिया। उत्पादन के साधन न पूंजीपतियों के हाथों में हों न सरकार के हाथों में। बल्कि यह साधन खुद श्रमकारों के हाथों में होने चाहिये।

उन्होंने देखा कि भारत की वैचारिक आधारशिला कभी क्रान्तिकारी नहीं रही। उनकी निगाह में सबसे बड़ा परिवर्तनकारी आन्दोलन स्वतन्त्रता संग्राम था पर वह भी पूर्णरूपेण प्रतिक्रियावाद से आच्छादित रहा। यह बात उन्हें सदा कुरेदती रही। इसीलिये उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाये जाने को अपरिहार्य बतलाया।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना आज़ादी के पूर्व जेल में हुई थी। इसका मूलमन्त्र है—युगाधियों से चली आ रही अन्धविश्वासपूर्ण जीवन-पद्धति, जिसे भारत आध्यात्मिक जीनियस या विवेक कहता है, को उजागर कर दूध का दूध और पानी का पानी करना। भारत को एक रिनेसाँ की ज़रूरत है अर्थात् अध्यात्मवाद के पुनर्जन्म की ज़रूरत है। उनके इन्हीं विचारों से प्रभावित हो जस्टिस वी. आर. कृष्णा अैयर ने कहा था—एम. एन. राय ने जनमानस को तो नहीं पर बुद्धिजीवियों को खूब झकझोरा है।

मैं कोई विद्वान व लेखक नहीं हूँ। एक मामूली तहसील-स्तर का वकील हूँ। जिसका रोज़ फटेहाल गंवारों से साबिका पड़ता है। उनकी दशा देख कर दिल द्रवित हो जाता है पर अहलकार उन्हें भी नोंचने में संकोच नहीं करते। यह हृदय विदारक दृश्य हमेशा कुरेदता रहे और उन्हीं लोगों के बारे में सोचने व लिखने को बेचैन रहूँ, इस मोह के आगे कहीं बाहर जाकर प्रैक्टिस जमाने का मोह त्यागना पड़ा। दरअसल इस अनुवाद के पीछे हमारे 'स्वर्णयुग' के शिकार इन्हीं बदक़िस्मत गंवारों की ही प्रेरणा है।

मैंने देखा कि पत्र-पत्रिकाओं में लिखने से कोई मतलब नहीं हल होता। क्योंकि वे शहरों व कस्बों के नीचे, जहाँ अज्ञानता का समुद्र हिलोरें मार रहा है, उतर नहीं पातीं और उधर 'स्वर्णयुगीन अवशेष' यानी पुरोहिती

फौजमय अपने साहित्य के उसी समुद्र में उन्हें गोता लगाने को मज़बूर कर रही है। इसलिये सोचा कि यदि यह पुस्तक हर रेलवे बुक स्टाल और बस अड्डे पर मिल सके और खूनी पंजा और भयंकर भेदिया जैसी सस्ती पुस्तकों की भांति तेजी से बिक सके तो धीरे-धीरे भारतीय 'विवेक' पर से आवरण हटना शुरू हो जायेगा।

अनुवाद करते समय कुछ पाठों में थोड़ी बहुत कटौती कर दी गयी है। जैसे पाठ पाँच में गाँधीवाद की व्याख्या भारत के लिये कोई नई चीज़ नहीं थी। कम व बेश हर कोई जानता और समझता है। इसलिए यह दोहरापन उचित न समझ कर उतना भाग छोड़ दिया गया है। इसी तरह अन्तिम पाठ में विश्व के 'फस्ट काज' को समझाने के लिये प्लेटो के त्रिमूर्ति सिद्धान्त का अनुवाद करके भी इसमें शामिल नहीं किया गया है। वह आम आदमी के काम की चीज़ नहीं थी। और भी यत्र-तत्र संक्षिप्तीकरण किया गया जिससे पुस्तक की मूल भावना पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है।

कहा गया है कि अनुवाद धर्म, जाति और सम्प्रदायों की कृत्रिम दीवारों को तोड़कर बिखरी हुई घाटियों के बीच पुल बना कर मनुष्य को मनुष्य के नज़दीक लाता है। यही सोचकर मैंने दो फीसदी अंग्रेज़ीदाँ लोगों की जगह पर 30-40 फीसदी शिक्षित लोगों तक श्री राय के विचारों को पहुँचाने की चेष्टा की है। पर 'हिन्दी प्रेमियों' से विनती है कि वे अपनी कृपा-कटाक्ष से बचाये रखने की कृपा करें।

आर. के. भट्ट

एडवोकेट

बिसवाँ—सीतापुर

उत्तर प्रदेश

पुनर्जन्म

दिल्ली के किसी पड़ोसी गाँव में एक लड़की ने जन्म लिया। नौ साल की होने पर उस लड़की शान्ति देवी ने अपने पिता से अनुरोध किया कि उसे मथुरा ले चलें, जहाँ उसने इसके पहले का जीवन जिया था। शुरू में उस के पिता ने ध्यान नहीं दिया। मगर उसकी बात परिवार के बाहर भी फैल गयी, तो उन लोगों ने एक कमेटी बनाई और उसे मथुरा लेकर चल पड़े। मथुरा पहुँचते ही प्लेटफॉर्म पर उसने वहीं के निवासी एक ब्राह्मण को अपना पूर्व-जन्म का पति बताया। भीड़ से बाहर निकल कर एक बूढ़े आदमी को अपना ससुर बताया। वह कमेटी के सदस्यों को अपने पुराने घर का रास्ता बताती गयी जहाँ वह पहले जन्म में रही थी। उसने अपने घर की हर दरो-दीवार व चौहदी से अपना अन्तरंग सम्बन्ध बताया। उसने यमुना का वह घाट दिखाया जहाँ वह नहाने जाती थी। अपने पुराने पति से पैदा हुए पुत्र के प्रति बड़ी आत्मीयता और वात्सल्य प्रदर्शित किया। उसके पति ने बताया कि उसकी पत्नी का निधन नौ वर्ष पूर्व इसी पुत्र की पैदाइश के वक़्त हुआ था। अब इन सबूतों की मौजूदगी में कौन शख़्स होगा जो पुनर्जन्म में विश्वास न करेगा।

कमेटी वाले पूरी तौर से इस घटना से संतुष्ट थे। उन्हें यह निश्चय करने में कोई दिक्कत नहीं थी कि घटना वास्तविकताओं से युक्त है। और उक्त निष्कर्ष आम और ख़ास में प्रकाशित कर दिया गया। शान्ति देवी ने ख़ुद इन तथ्यों को आम सभाओं में उजागर किया और कमेटी वालों ने ख़ुद इसकी ताईद की। हिन्दू संस्कृति के ठेकेदारों ने अख़बार-नवीसों के पास पहुँच कर मॉडर्न साइंस और झूठे मनोविज्ञान की खिल्ली उड़ायी। नौ साल की लड़की ने जिसने विज्ञान और मनोविज्ञान का नाम भी नहीं सुना था, विज्ञान को ललकारा। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के जबरदस्त पोषक और मनोवैज्ञानिक खुले रूप से स्वयं विक्षिप्त मॉडर्न साइंस की आलोचना कर रहे थे।

बार बार सुनने के बाद मैंने भी इस कहानी को गुना। यों पुनर्जन्म के प्रश्न पर मैं हमेशा से लापरवाह था क्योंकि मैं जानता था, एक समय था जब आत्मा को ईज़ाद करने में आदमी ने संगति दिखायी थी और वह अपने आविष्कार में विश्वास करता आया है। लेकिन कुछ लोग नई जानकारी होने के साथ साथ पुरानी मान्यताओं को छोड़ फेंकते हैं। बाक़ी लोग इस छोड़ फेंकने के आचरण की भर्त्सना करते हैं। मैं उन लोगों में से हूँ जो इस ईज़ादशुदा सत्य में विश्वास नहीं करते। और उसकी भर्त्सना करते हैं।

पदार्थीय सत्य सांसारिक वास्तविकता है। मैं सत्य को भौतिक (फिजिकल) घटना मानता हूँ, जो थोड़ा स्पष्टीकरण माँगता है। शब्द भौतिक (फिजिकल) में जैविक (बायोलोजिकल) और रासायनिक दोनों प्रक्रियाएँ शामिल हैं। तत्त्वज्ञानी इससे गुरेज कर सकते हैं लेकिन गुरेज या गुस्सा या आवरणयुक्त अभिव्यक्ति कोई तर्कसंगत बात नहीं होती।

शान्ति देवी की कहानी ने मुझे इस तरह आन्दोलित नहीं किया कि मैं पुनर्जन्म की सत्यता पर विचार करने लगूँ। क्योंकि आज आदमी इतना दूषित हो गया है कि उसे अपने को जीवधारी कहने तक में शर्म आती है। विचारवान जीव होने के कारण उसमें ज्ञान का बाहुल्य होना चाहिये था। लेकिन उनमें से अधिकांश में इसका अभाव है। सोचने की शक्ति होते हुए भी उसका उपयोग न करना दुर्भाग्य ही तो है। वे ख़ुद देवता बनने का दिखावा करते हैं। उस शक्ति को छिपा कर अपने वजूद को छिपाने की कोशिश करते हैं। सत्य के बजाय झूठ को प्रश्रय देते हैं।

मेरे सोचने का विषय आदमी का सौजन्य है। जो उसकी विवेकपूर्ण दृष्टि से अपेक्षित है। शान्ति देवी की मीटिंग में जो आदमी-औरतें उपस्थित थे वे प्राकृतिक प्रक्रिया की ओर से आंखें मूंदे थे। वे आसानी से तमाम ऐसे सवाल कर सकते थे जिनका जवाब आ जाने के बाद ही कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता था; चाहे वे सिद्धान्त के तौर पर ही निष्कर्ष निकालते।

मूल प्रश्न है प्रभावी सबूत का। अगर कोई शख़्स आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करता है तो उसके लिये कुछ कहना नहीं। आप किसी के विश्वास को तर्क से न सिद्ध कर सकते हैं न असिद्ध। लेकिन पुनर्जन्म का विश्वास विचार-प्रक्रिया की देन है।

आप यह मान कर चलें कि आत्मा होती है और आदमी के मरने के बाद वह शरीर से निकल कर अलग हो जाती है। वैज्ञानिक भाषा में शारीरिक शब्द ठीक रहेगा क्योंकि शरीर में वे सब चीज़ें आ जाती हैं जिनका वजूद है। फिर भी मैं यहाँ पर शब्द जैविक (बायोलोजिकल) इस्तेमाल करता हूँ ताकि और खुलासा हो जाये कि मजहब की देन आत्मा एक झूठी मान्यता है।

एक बार आत्मा को मान लिया जाये, गो कि मान्यता कभी तजुर्बों की कसौटी पर सही नहीं उतरती, तो आप आगे यह भी मान कर चलते हैं कि आत्मा अमर है। यह अतिरिक्त मान्यता आदमी के वैचारिक व शारीरिक अस्तित्व में फ़र्क़ करने के लिये ज़रूरी है। आदमी के शरीर की मृत्यु के बाद आत्मा बच रहती है। अब शरीर रहित आत्मा का आभास तभी होगा जब वह दुबारा किसी शरीर में प्रवेश करेगी। जैविक (बायोलोजिकल) प्रक्रिया इसे हर बार शरीर रहित कर देती है। इस प्रकार पुनर्जन्म का विश्वास उस विश्वास से जन्म लेता है कि मनुष्य के शरीर के अन्दर एक अमर तत्त्व मौजूद है। और आज यह विचार अन्तिम रूप से तय हो चुका है कि यह आदिम-युगीन विश्व आत्मा की एक पाशविक विचारधारा है।

आत्मा की अमरता का विचार आदमी ने उस स्तर पर अर्जित नहीं किया जब वह आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचा बल्कि यह बहुत ही आदिम-युगीन विचार है। इसकी उत्पत्ति आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है बल्कि अज्ञानता है। यह वस्तुस्थिति आज भी तमाम आदिम जातियों में देखी जाती है। मलाया के निवासियों का विश्वास है कि आत्मा का रंग लाल

होता है। मलाया की दूसरी जातियाँ उसे मक्के या चने के दाने के बराबर बताती हैं। कुछ जातियाँ उसे भापदार बताती हैं। कुछ छाया मात्र, और कुछ उसका आकार अंगूठे के बराबर बताती हैं। पैसिफिक द्वीप समूह में आत्मा को मात्र शरीरांश में सीमित न मानकर उसे तरल और सारे शरीर में व्याप्त मानते हैं। जापान की पिछड़ी जातियाँ उसे छोटी व गोल आकार की मानती हैं। आस्ट्रेलिया के 'बुशमैन' उसे छोटे आकार की वस्तु मानते हैं, जो आदमी के सीने में रहती है।

आदिम जातियाँ प्राकृतिक घटनाओं को दैवी-प्रेतों द्वारा किया गया उत्पात मानती थी। इन जातियों में इस प्रकार की मान्यता समान रूप से पायी जाती है, चाहे वे किसी भी खित्ते में रहती हों। हाँ, आत्मा के रंग-रूप और आकार में भिन्नता अवश्य है। शरीर रचना-शास्त्रियों ने इसे दो भागों में बाँटा है—पहली मान्यता के अनुसार कोई भी वस्तु को गति देने वाला तत्त्व उसी वस्तु में विद्यमान रहता है। दूसरी मान्यता के अनुसार प्रत्येक गति का कोई कर्ता होता है जो उसे नियंत्रित करता है। और उससे विलग होने का सामर्थ्य रखता है। हाईपरफिजिकल आत्मवाद मानता है कि चेतना एक अलग चीज़ है जो शरीर को छोड़कर अलग होने की शक्ति रखती है। वह मृत्यु से परे है और अशरीर रूप में मौजूद रह सकती है। मनोवैज्ञानिक आत्मवाद का कहना है कि जितने भी शरीरधारी हैं उनमें दैवी चेतना व्याप्त रहती है। इस प्रकार की चेतना संभ्रान्त जन के बच्चों में भी पायी जाती है। वे कुर्सी-मेज़ को मारने लगते हैं जिससे लड़कर वे चोट खा जाते हैं। सो आत्मा का सिद्धान्त और उसका पुनर्जन्म हाईपरफिजिकल स्कूल से विकसित हुआ है। खोज से भी पता चलता है कि आदिम जातियों में सपनों का स्पष्टीकरण ढूँढ़ने की जिज्ञासा से यह सिद्धान्त उत्पन्न हुआ है।

यदि मृत्यु होने पर आत्मा शरीर को छोड़ कर चली जाती है, तब सवाल उठता है कि आखिर आत्मा किस वस्तु की बनी होती है ? बताया जाता

है कि आत्म तत्त्व स्थूल और पेचीदा तथा आमतौर पर अदृश्य होता है। और विश्वास किया जाता है कि वह सारे शरीर में व्याप्त रहता है।

सदियों से भूत-प्रेतों में विश्वास, आत्म तत्त्व के साथ मिश्रित रहा है। इसलिये तत्त्व ज्ञानियों ने जड़ और चेतन, आत्मा और शरीर के अन्तर को पाटने के लिये अमर आत्मा का सिद्धान्त बनाया। पुनर्जन्म उसी विचारधारा का तर्कसंगत निष्कर्ष है। मगर आज के तमाम तत्त्वज्ञानी जो आधुनिक ज्ञान तथा मॉडर्न साइंस को मान्यता देते हैं, मानते हैं कि युगों पुराना आत्म सिद्धान्त अज्ञानता और आदिमयुगीन प्रवृत्ति की उपज है। मशहूर जर्मन तत्त्वज्ञानी 'उन्ट' इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जीवित शरीर में आत्मा का बोध ही अध्यात्मवाद की शुरूआत है।

इस प्रकार आत्मवाद का सिद्धान्त प्राकृत युग की यादगार है और अज्ञानियों में इसका आज भी साम्राज्य है। आत्मा की उत्पत्ति जैसे भी हुई हो उसके लिए पुनर्जन्म की प्रक्रिया को यहाँ पर स्थान देना है।

अगर यह वस्तुपरक वास्तविकता है तो उसके जानने का कोई न कोई तरीक़ा होना चाहिये। आप विज्ञान को नकार दें और विज्ञान सम्मत विचारधारा को त्याग दें तो विज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता। बल्कि वह तुम्हें तुम्हारे ही हाल पर छोड़ देगा। दूसरी ओर तुम धार्मिक अन्धविश्वासों पर प्रयोग-सिद्ध-ज्ञान से आगे बढ़ोगे तो तुम ख़तरनाक रास्तों पर चलोगे। और अगर तुम विज्ञान को चुनौती देते हो तो उससे सम्बन्धित वाद-बिन्दु वैज्ञानिक तौर पर ही सुलझाये जायेंगे। खेल के नियमों का पालन करना ही पड़ेगा। वैज्ञानिक विचार प्रणाली धार्मिक विचार प्रणाली से एकदम भिन्न है। क्योंकि जो साबित न किया जा सके, उसे विज्ञान सत्य नहीं मानता। वैज्ञानिक और भौतिक विचार, धर्म को इसलिये निरस्त नहीं करते हैं कि उसमें व्याप्त अन्धविश्वास परीक्षण की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, बल्कि उसका स्वभाव असंगत है। अगर धर्म विज्ञान को चुनौती देने का साहस रखता है तो लड़ाई विज्ञान की भूमि पर लड़ी

जायेगी। और लड़ाई (वार्ता) सख्त वैज्ञानिक नियमों के मुताबिक होगी। अगर वे अपने अन्धविश्वासों के समर्थन में अनुभवयुक्त या प्रयोग-साध्य साक्ष्य देने में समर्थ होते हैं, जिससे वैज्ञानिक ज्ञान पर उनकी महत्ता को देखा जा सके, तो साक्ष्य के मूलभूत नियमों का पालन करना आवश्यक होगा। और साक्ष्य को एकत्र करने का तरीक़ा ऐसा होगा कि वह पायदारी की गारण्टी दे सके।

यहाँ पर जैसे उस लड़की का बयान है। कहा जाता है कि उसका बयान तस्दीकशुदा है। मगर पूरा केस इस बात पर निर्भर करता है कि क्या जाँच निष्पक्ष हुई, और क्या निष्पक्षता से ऐसी जाँच संभव है? ज़ाहिर है पूर्वग्रही मान्यताएँ आलोचनाओं को पास नहीं फटकने देतीं। और अन्धविश्वासों द्वारा दिये गये साक्ष्य और अविवेकी व्यक्तियों द्वारा लिखे गये बयानों पर कभी भरोसा नहीं किया जा सकता। यानी जाँच दोषरहित नहीं थी। यह जाँच उन लोगों के द्वारा की गयी जिनके लिहाज से पुनर्जन्म होता है। साक्ष्य उन लोगों द्वारा किया गया जो वैज्ञानिक जाँच में हिस्सा लेने योग्य नहीं थे। जितने भी लोग थे वे सभी पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। और सन्देहरहित व अविवेकी मत रखते थे, जिनके होते हुए ऐसी जाँच नहीं हो सकती थी।

पहले यह देखना है कि अमर आत्मा के सिद्धान्त में कोई सैद्धान्तिक संगति भी है? उसके बाद ही पुनर्जन्म को प्रयोग-सिद्ध तरीक़े से साबित करने की इजाजत दी जा सकती है। क्योंकि आत्मा की अमरता का विश्वास ही इस सिद्धान्त की जननी है। तो इस विश्वास के पीछे भावनाओं का सख्ती से परीक्षण किया जाना चाहिये। विज्ञान इस विश्वास को चुनौती देता है और उसकी आधारहीनता को उजागर करता है। सबसे पहले धर्मगत आत्मा के वजूद को साबित करना पड़ेगा। तब उसकी अमरता और पुनर्जन्म की बात उठानी उचित होगी। हम यह मान कर चलें कि शान्ति देवी की कहानी सही और प्रयोग-सिद्ध है तो भी आत्मा

की अमरता सिद्ध नहीं होती। अगर कुछ सिद्ध होता है तो इतना ही कि स्मरण शक्ति मृत्यु के बाद बच रहती है। मगर यह बहुत ही भ्रामक-कथन है और खासकर आत्मवाद के सिद्धान्त के लिये बहुत ही ख़तरनाक चीज़ है। क्योंकि याददाश्त एक जैविक (बायोलोजिकल) क्रिया है। यह दिमाग़ में एकत्र होती रहती है और मृत्यूपरान्त खत्म हो जाती है। इससे पता चल जाता है कि याददाश्त निर्भर करती है शारीरिक यन्त्र (दिमाग़) पर, उसकी सामान्य स्थिति पर। और हर शारीरिक रचना स्थूल होती है। दिमाग़ एक जीवित और चेतन पदार्थपिण्ड है। जिसका रासायनिक परीक्षण हो सकता है। किसी ने आज तक अशरीर दिमाग़ की बात नहीं सोची है। और शरीर रचनाशास्त्र के अनुसार ऐसा कहना बेवकूफी की बात भी होगी।

अगर याददाश्त बतौर आत्मा के मृत्यु के बाद बच रहती है, तो फिर आत्मा के बारे में क्या कहा जायेगा। क्योंकि वह स्थूलता से युक्त है। शारीरिक गुण मौजूद होने से आत्मा का स्थूल होना अनिवार्य हो जायेगा। लेकिन वह एक अशरीर वस्तु भी कही गयी है। उसी सिद्धान्तानुसार उसका पुनर्जन्म भी सम्भव है। आत्मा और शरीर में कोई साम्य नहीं है। वह शरीर के अन्दर रहती है पर शारीरिक क्रिया-कलापों से, बतौर एक मूक द्रष्टा के, बेदाग़ रहती है। इसलिये वह शरीर के साथ नहीं मरती है। वह शरीर को उसी तरह छोड़ देती है जैसे लोग पुराने कपड़े उतार कर फेंक देते हैं। और दूसरे शरीर में प्रविष्ट होने के लिये चली जाती है। मगर हम देखते हैं कि पुराने कपड़े इससे चिपके रहते हैं। यह उन्हें एकदम नहीं फेंक पाती। क्योंकि अगर वह ऐसा करती तो फिर याददाश्त गायब हो जाती। बहरहाल पुराने कपड़ों की गंध इसमें ज़रूर आती रहती है और इससे उसका खालिसपन नष्ट हो जाता है। कोई आदमी उस वस्तु से विलग नहीं हो सकता यदि उसकी याददाश्त उसके ऊपर इतने ज़ोरों से हावी हो।

इस प्रकार पुनर्जन्म सम्बन्धी वैज्ञानिक साक्ष्य आत्म सिद्धान्त का ही सफ़ाया कर देते हैं। वे आत्मा के जिस अशरीर रूप की कल्पना की गई है, उसे साबित करने के लिये ही उस गुण से युक्त बताते हैं, जिसे सिद्धान्ततः नहीं रखा जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में पुनर्जन्म को वैज्ञानिक पद्धति से साबित करने के लिये हम अशरीर आत्मा को असिद्ध करने में ही सफल होते हैं। यह एक बड़ी ही अटपटी बात है—जैसे कोई वही डाल काटे जिस पर ख़ुद बैठा हो।

आत्मवाद के मानने वालों ने पुनर्जन्म का आधार सूक्ष्म शरीर माना है। डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है—'हमारे पूर्वज बड़े साहसी थे'। उन्होंने महसूस किया कि पुनर्जन्म में क्या-क्या तथ्य शामिल हैं और आत्मा को उसी तौर पर मोड़ दिया। पूर्वजों द्वारा मान्य आत्मा अशरीर नहीं है। यह अंगूठे के बराबर होती है। इस प्रकार के तमाम पुराने विचार उपनिषदों में ख़ूब विस्तार के साथ दिये हुए हैं।

पूर्वज साहसी हो सकते हैं। क्योंकि तब तक विज्ञान उनके कथन को चुनौती देने के लिये अवतरित नहीं हुआ था। वे कथन और उड़ानें व्यर्थ नहीं थीं। उनका एक उद्देश्य था—सांसारिक उद्देश्य। हमारे पुरखे राजाओं के लिये क़ानूनों की नींव डाल रहे थे। जिसके लिये लोकोत्तर अनुमोदन ज़रूरी था। केवल इसीलिये वे सिद्धान्त आविष्कृत हुए थे, जिनमें और जंगली जमाने के अन्धविश्वास इस्तेमाल किये गये थे।

पुनर्जन्म में विश्वास इसलिये जगाया गया था कि कर्म सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हो सके। इन सबका उद्देश्य था कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहे और हर आदमी अपने दिये हुए स्थान पर बिना चूं-चपड़ के कार्यरत रहे।

विवेकहीनता को विवेकपूर्ण बनाना बेकार की कसरत है। विश्वास ऐसी चीज़ है जो वैज्ञानिक तौर पर साबित नहीं हो सकता। विश्वास और आस्था सबूत से ऊपर हैं।

जो पुनर्जन्म लेता है, जो मृत्यु के बाद बच रहता है वह अशरीर आत्मा नहीं है, बल्कि सूक्ष्म शरीर है। पुनर्जन्म सिद्धान्त मानता है कि एक सूक्ष्म शरीर मृत्यु के बाद शेष रह जाता है। अगर यह मान लिया जाये तो पूर्वजन्म की याददाश्त का सिद्धान्त कुछ सही उतर सकता है। मगर ऐसा करने पर आप ख़ुद ही शत्रु की भूमि पर उतर आते हैं, जहाँ से बचने की कोई तरकीब नहीं। आप जो कथन पेश करते हैं वह शर्तिया वैज्ञानिक है। और इसे अनुभवयुक्त कसौटी पर परखा जा सकता है। अगर मृत्यु के बाद बच रहने वाली चीज़ शरीरयुक्त है तो अगले जन्म में उसका क्या होता है। यह पता लगाना आपका पहला काम होगा।

आदमी की मृत्यु के बाद उन तत्त्वों का, जिनसे वह बना है, ख़ात्मा नहीं हो जाता, बल्कि उनका रासायनिक परिवर्तन हो जाता है। शरीर संरचना सम्बन्धी तत्त्वों का ह्रास हो जाने की स्थिति को मृत्यु कहते हैं। लेकिन सूक्ष्म शरीर के पक्षधरों की मान्यता है कि मृत्यु के बाद पदार्थीय संगठन शेष रह जाता है। इसमें कोई सार्थकता नहीं, क्योंकि मृत्यु पदार्थीय संगठन की होती है। पदार्थ इस प्रक्रिया में शामिल नहीं है। शेष रह जाने के माने हैं उस तत्त्व की अविरलता क़ायम रखना जिस पर इस प्रक्रिया में प्रहार होता है।

शरीर के मरने की प्रक्रिया पूरी बारीकी के साथ देखी जा सकती है। बल्कि यह प्रक्रिया पहले से ही सर्वविदित है। इसे क्लीनिक (कक्ष) में विस्तार से देखा जा सकता है। कहीं भी ऐसा साक्ष्य नहीं मिलता है जिससे जाना जा सके कि इस प्रक्रिया के किसी स्तर पर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर निकल जाता हो, जो जीवन भर के अनुभव और याददाश्त अपने में संजोये हो। क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर चाहे जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, भौतिक और रासायनिक गुणों से युक्त होगा। और वह विज्ञान की निगाह से बच नहीं सकता।

सूक्ष्म शरीर का दकियानूसी सिद्धान्त अब किसी काम का नहीं रहा है। क्योंकि आज के जमाने में शरीर रचना-शास्त्री मृत्यु से सम्बन्धित रहस्य के बहुत भीतर घुस चुके हैं। यह सिद्धान्त उस युग में अपनी विश्वसनीयता रखता था जब शरीर रचना और जीवन के विषय में महान् अन्धकार और अज्ञानता फैली हुई थी। लेकिन बिना सूक्ष्म शरीर को मानकर चलने से पुनर्जन्म साबित भी नहीं हो सकता। वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार शान्ति देवी की तरह की कहानियां चाहे जितनी विश्वसनीय हों और चाहे जितनी वैज्ञानिक ढंग से कही गयी हों, चलने वाली नहीं हैं। एक अशरीर आत्मा स्मरण शक्ति नहीं रख सकती है और स्थूल संगठन (फिजिकल आर्गेनाइजेशन) जो स्मरण शक्ति ढो सकने में समर्थ हो, मृत्यु के बाद शेष नहीं बच सकता। एक तरफ़ आपका केस आपके ही तर्क से असिद्ध हो जाता है। और दूसरी ओर आपके कथन का वैज्ञानिक परीक्षण हो सके, ये दोनों बातें भ्रामक हैं। इसलिये इन पर आगे विचार करने की ज़रूरत नहीं है।

पूरी प्रक्रिया तार्किक तौर पर असंगत और भ्रामक है। क्योंकि इसका आधार ख़ुद वही कथन है, जो साबित किया जाना है। अगर मृत्यूपरान्त का (शेष) अकाट्य तथ्यों से साबित होता है, तो आत्मा का वजूद और उसकी अमरता अपने आप सिद्ध हो जाती है। पहले शेष रहने की संभावना को मान कर चलें। अगर उक्त मान्यता न होती तो इस तरह की कहानियाँ पूरे सन्देह के साथ देखी जातीं। उनकी विश्वसनीयता प्रत्यक्ष रूप से वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर शक पैदा करती। फिर ऐसी कहानियों के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह मान्य सिद्धान्तों को बल प्रदान करती है। इसलिए इस क़िस्म की जाँच के लिये ऐसी सख़्ती की ज़रूरत है जिससे वैज्ञानिक वस्तुस्थिति प्रकट हो सके। उसके लिये पूर्णतया अलग प्रणाली होगी। अभी हाल के मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चला है कि साक्ष्यों का एकत्रीकरण कोई आसान काम नहीं। सबूतों की विश्वसनीयता विभिन्न

बातों पर निर्भर करती है। पूर्वग्रह उनमें से मुख्य है। कुछ लोग ऐसी चीज़ें देखते हैं जो अन्य पूर्वग्रही व्यक्ति द्वारा नहीं देखी जाती। दूसरी ओर भावनात्मक और शारीरिक रूप से आन्दोलित आदमी साफ रखी चीज़ देखने में असफल रहते हैं। बहुत से लोग प्रत्यक्ष घटनाओं की असलियत से वाकिफ नहीं हो पाते। केवल कुछ माहिर जानकार और तीक्ष्ण बुद्धि लोग ही असल घटनाओं को सही ढंग से समझ पाते हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधान की पूर्व शर्त यह है कि हम जानें कि जिन्हें हम सत्य मानते हैं वह सत्य है भी। बिना इस प्रारम्भिक ज्ञान के हवा में महल बनाना बेकार है। वे ज़रा-सी बुद्धि के इस्तेमाल से धराशायी हो जायेंगे। एक बार कल्पनाओं को सत्य मान लिया गया तो फिर आगे के सभी तथ्य सही मालूम पड़ने लगते हैं। बहुत से लोग विश्वास करते हैं कि उन्होंने प्रेत देखे हैं। वे उस देखने का वास्तविक अनुभव भी बतलाते हैं। मगर उससे यह नहीं साबित होता कि उन्होंने किसी स्थूल तथ्य का अनुभव किया है। फिर भी ये लोग तमाम बुद्धिमान लोगों को प्रेत देखने का विश्वास दिलाने में सफल होते हैं। किसी चीज़ को सोचने को ही आँखों से देखा जाना मानना तभी तक सत्य है, जब तक सोचने की प्रक्रिया जारी है। इसलिये सोचना सत्य हो सकता है, मगर किसी वास्तविकता का सबूत नहीं हो सकता।

अप्रायोगिक मनोविज्ञान को लें। कोई आदमी जिसने कहानियाँ पढ़ी हैं, जानता है कि देखना (आबजर्व करना) कोई आसान काम नहीं है। एक चीज़ का देखना अलग चीज़ है और आबजर्व करना अलग।

शान्ति देवी की यात्रा कहानी पर भरोसा इसलिये नहीं किया जा सकता कि उसकी तसदीक नहीं हो सकती। वह वैज्ञानिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती। कमेटी के ईमानदार गवाह विश्वसनीय नहीं हैं। उनके कथन में मामूली सत्य और बाक़ी झूठ है। ऐसे साक्ष्यों से जो निष्कर्ष निकलता है वह वैज्ञानिक तौर पर सही नहीं हो सकता।

मथुरा वालों को पहले से मालूम था कि कमेटी वाले आ रहे हैं। वे लोग जो पति और पितामह बताये गये उन्हें पहले से इस कहानी की जानकारी थी, जिसके वे सम्मानित पात्र बने।

कमेटी का स्टेशन पर उस भीड़ ने स्वागत किया जो चमत्कार देखने को उत्सुक थी। इसलिये वातावरण बहुत ही भावनात्मक उत्तेजना से परिपूर्ण था। उसमें किसी क़िस्म की आलोचना बर्दाश्त नहीं की जा सकती थी। उस वातावरण में जिसमें वह कहानी प्रमाणित की गयी, पूर्वग्रह सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु था। यह कैसे सम्भव है कि उसमें आने वाले, पति, पितामह ने जब तक उसने ख़ुद नहीं चुना, उसका स्वागत किया। माना कि उन्होंने ऐसा न करने की सावधानी बरती थी, गो कि इस क़िस्म की सावधानी बरतने की कोई सूचना नहीं है, फिर भी उस भीड़ की भावनाओं को कन्ट्रोल करना असम्भव था। यह बात सोची जा सकती है कि उनके पहुँचते ही लोगों ने कहना शुरू किया हो कि वह देखो तुम्हारे पति आ रहे हैं, या पुत्र आ रहा है। इस तरह की बातें लोग अपने आप करने लगते हैं। उसमें उनकी मंशा यह नहीं रहती कि—लड़की को इशारा मिल जाये। भीड़ को इस कहानी में कोई शक नहीं था। लड़की शायद अपने रिश्तेदारों को न पहचान पाये—यह बात किसी के दिल में न थी। इसलिये उसकी मदद में कोई क्यों आता। माना कि कमेटी वाले शक्की थे, मगर वे लड़की की हरकतों पर ध्यान केन्द्रित किये हुए थे। और इस तरह भीड़ का रुख देखने में असफल रहे हों। मौजूद जनता चूंकि कहानी से वाकिफ़ थी, पहले से सोच रही होगी कि उसके पिछले जन्म के कौन रिश्तेदार होंगे। उनके लिये यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि केवल पाक और पवित्र लोग ही लड़की के पिता, पति और पितामह हो सकते हैं। बहुत से ऐसे पवित्र लोगों ने अपने को वैसा सोचा भी होगा। बहुत मुमकिन है उनमें से कुछ लोगों ने अपने को पहले से ऐलान कर दिया हो। ख़ैर, जब तक यह साबित न हो जाये कि इस सिलसिले में सभी सावधानियाँ बरती गयी थीं, यह पहचान यक़ीन लायक नहीं है।

वास्तविकता यह है कि वैज्ञानिक खोज की सभी पूर्व शर्तों का अभाव था। प्रमाणित होने की विश्वसनीयता, उसकी खोज प्रणाली और प्रक्रिया दोनों में प्रदर्शित होनी चाहिये। जाँच की कार्यवाही सम्पूर्ण रूप से पूर्वग्रही थी। क्योंकि कमेटी के मथुरा पहुँचने से पहले ही वहाँ सबको कहानी मालूम थी। पूर्वसूचना के होने के कारण यह स्वाभाविक है कि पिछले रिश्तेदार गर्व के साथ अपने को उपस्थित करने के लिये स्टेशन पर आये हों। ऐसे वातावरण में कोई डींग मार सकता है कि लड़की को कोई इशारा नहीं था, उसने स्वाभाविक ढंग से व्यवहार किया। मगर सबसे प्रभावी तरीक़ा यह होता कि मथुरा के लोगों को इस कहानी से बिलकुल अनभिज्ञ रखा जाता। यह सावधानी नहीं बरती गयी। यह किया भी नहीं जा सकता था क्योंकि कहानी पब्लिक प्रॉपर्टी बन चुकी थी।

इसी प्रकार दूसरी घटनाएँ भी उसी माहौल से ओतप्रोत हैं, उसी के पक्ष में हैं। उमड़ती भीड़, जो पहले से वह मकान जानती थी, ने भी लड़की को कमेटी वालों को दिशा-निर्देश देने में मदद की। फिर उस घर में, कौन गारंटी ले सकता है कि लड़की के कार्य-कलाप उसके उत्सुक रिश्तेदारों द्वारा न थोपे गये हों। उसके पिछले जन्म की घटनाओं की याद दिलाना, उन जगहों को बताना जहाँ सोने का कमरा था या नहाने का घाट था, जहाँ पर वह अपने कपड़े रखती थी वगैरह-वगैरह। और लड़की को यह सब याद आ जाता होगा। कोई भी जान-बूझ कर कहानी नहीं गढ़ रहा होगा। सभी अपने-अपने विश्वास में ईमानदार होंगे। इस सहज विश्वसनीयता के वातावरण में कल्पना भी आसानी से गौरवशाली सत्य बन जाती है। वहाँ पर मौजूद प्रत्येक व्यक्ति सत्य का प्रदर्शन देखना चाहता होगा। उसमें ज़रा भी शक-सुबहा करने का सवाल ही नहीं था। मान भी लें कि कमेटी वाले अपवाद थे, फिर भी वे वातावरण के शिकार तो थे ही। चूंकि ज़रूरी सावधानियाँ नहीं बरती गयी थीं, इसलिये कमेटी स्थिति को सम्भाल नहीं सकती थी। कमेटी का यह कहना बड़ा बोल होगा कि पूरी

जाँच के बीच ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ जिसने लड़की के व्यवहार को प्रभावित किया हो। जहाँ तक मैं जानता हूँ कमेटी का एक भी सदस्य आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में द्विविधा नहीं रखता था—ये तथ्य मात्र ही उन सबको अयोग्य साबित करने के लिये काफ़ी हैं।

आस्था को किसी परीक्षण की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। आस्था का इम्तिहान लेने की इच्छा होना ही यह साबित करता है कि उसकी आस्था टूट चुकी है। जब तक यह विश्वास होता है कि एक चीज़ सत्य है, तुम उसको साबित करने की ज़रूरत नहीं समझते। अगर तुम ऐसा करते हो तो उन लोगों को सन्तुष्ट करने के लिये करते हो जो तुम्हारी आस्था में विश्वास नहीं रखते। वास्तव में यह जाँच नहीं थी, बल्कि तथ्यों को प्रमाणित करना था। जाँच की पूर्व शर्त ही यह है कि उसमें सन्देह पैदा हो। वहाँ पर पुनर्जन्म का मुद्दा था। उसे प्रमाणित करना था ताकि उस सिद्धान्त के समर्थन में इन्द्रिय साक्ष्य दिखाये जा सकें। मनोविज्ञान और प्रक्रियात्मक तरीक़ों को छोड़ भी दें तो दूसरे और भी कारण हैं जिनसे शक पैदा होता है कि जाँच के लिये ज़रूरी पाबन्दियाँ नहीं बरती गयीं। विभिन्न रिपोर्ट्स में भी तमाम अन्तर्विरोध हैं। कमेटी रिपोर्ट इन विरोधों का जिक्र नहीं करती। लेकिन अख़बारनवीसों ने उनका जिक्र किया है। बजाय इसके कि उस अनपढ़ बच्ची के कथन की विश्वसनीयता की जाँच की जाती, पूरे वाकये को चमत्कार का दर्जा दिया गया। इस प्रकार वैज्ञानिक आधार पर इस जाँच से कुछ भी साबित नहीं होता। बजाय इसके कि उसकी पुनर्जन्म में आस्था थी, जो और पक्की हुई। लेकिन किसी आस्था में विश्वास करने से उसका सत्य साबित नहीं होता। कमेटी की रिपोर्ट साक्ष्य के लिहाज से बेकार है। उसे आस्था और विश्वास का घोषणा-पत्र कहा जा सकता है। इस प्रकार इस बकवास को हम विज्ञान को चुनौती देना कहें तो हास्यास्पद होगा। चुनौती देने वालों ने खेल के मामूली नियमों का भी पालन नहीं किया। यह मज़ेदार बात है कि अब भी चालाक आदमी उस वैज्ञानिक जाँच की बात गंभीरता

से नहीं करते हैं। 'वैज्ञानिक-जाँच' के हठधर्मियों को यह नहीं मालूम कि प्रस्तावित जाँच यानी कमेटी की रिपोर्ट वैज्ञानिक आधार पर बेकार है। क्योंकि यह आँकड़े किसी प्रकार भी प्रमाणित होने योग्य नहीं। और अब किसी वैज्ञानिक जाँच के लिये ज़रूरी शर्तें जुटाने में बहुत देर हो चुकी है। ये शर्तें पुनर्जन्म की दूसरी कहानी में लागू की जानी चाहिये। जिसमें पहली शर्त यह हो कि पाबन्द शर्तें और कन्ट्रोल्ड कन्डीशंस की तैयारी के पूर्व कहानी को बिलकुल फैलने न दिया जाये।

इस एक कहानी ने तमाम उत्तेजना फैला दी। जबकि यह कोई एक मात्र ऐसी कहानी नहीं है। लोगों को अपनी पुरानी घटनाओं को याद कर बताने की कहानियाँ अक्सर इस देश में सुनायी पड़ती हैं। यहाँ तक कि शिक्षित लोगों में भी यह बात आम है। लेकिन इसके पहले इस प्रकार की संगठित तौर पर प्रमाणित करने की घटना नहीं घटी। कहानी दूसरी कहानियों से जुदा भी नहीं दिखायी पड़ती है। न ही इसमें कोई स्पष्ट और अन्तिम साक्ष्य दिया गया जो पुनर्जन्म के विश्वास में वृद्धि कर सके। जाँच का दायरा भी नहीं बढ़ाया गया। केस ऐसे आँकड़ों पर आधारित किया गया जिसकी आलोचनाएँ परीक्षण पर खरी नहीं उतरी, और उसी कहानी से चिपके रहे जो अब दुबारा प्रमाणित नहीं हो सकती।

जो ज़रा भी वैज्ञानिक दृष्टि रखता है वह जानता है कि इस प्रकार की कहानियाँ अन्धविश्वास के नाबदानों में पैदा होती हैं। वे किसी भी कठोर वैज्ञानिक जाँच का आधार पेश नहीं करतीं। वैज्ञानिक सिद्धान्त आब्जर्वेशन और प्रयोगसिद्ध अनुभवों पर आधारित होते हैं। अन्धविश्वास जनित उदाहरण इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उलट नहीं सकते क्योंकि वे सिद्धान्त के क्रमानुसार निरीक्षण, परीक्षण, निरूपण और कठिन प्रयोगों द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। वैज्ञानिक जाँच अनुमानित प्रतिज्ञा (हाइपोथिसिस) से प्रारम्भ होती है। इन कहानियों के यथार्थ को लेकर कोई वैज्ञानिक जाँच नहीं हो सकती। उसके लिये एक क़दम पीछे की ओर जाना ज़रूरी है।

जैसे कोई व्यक्ति अभी तक की अनजानी प्रक्रिया के बारे में ऐलान करे— 'आग के ऊपर पानी जम जाता है, आदमी तीन टांगों का होता है, पत्थर पानी पर तैरता है।' अगर ये चीज़ें प्रमाणित की गयीं—तो वैज्ञानिक सिद्धान्त बेकार हो जायेंगे। इन सभी बातों के लिये पहली चीज़ जो करनी है वह यह कि खोज करने वाले की विश्वसनीयता तय करनी होगी। यहाँ पर उसके नैतिक व्यक्तित्व की नहीं बल्कि उसकी बौद्धिक योग्यता और उसकी मनोवैज्ञानिक अवस्था की जाँच ज़रूरी है। उसने ऐसी खोज कैसे की। कहाँ पर उसने ऐसी प्रक्रिया का वर्णन देखा। क्या वह पहले से वैज्ञानिक सिद्धान्त से परिचित था, और उसका इस सिद्धान्त के प्रति मनोभाव (ऐटीट्यूड) क्या था। क्या उसने वास्तव में वर्णित प्रक्रिया ख़ुद देखी, या वह सुनी-सुनायी बात दोहरा रहा है। क्या वह ऐसी सूचनाओं की आलोचनात्मक व्याख्या करने की योग्यता रखता है, क्या वह किसी जुंग का शिकार तो नहीं हो जाता। ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जो पहले इसके कि उस खोज पर गम्भीरता से विचार किया जाये और उसका प्रमाणीकरण तथ्यपरक माना जाये, संतोषजनक रूप से उत्तरित होने चाहिये।

पुनर्जन्म सम्बन्धी कहानियों की, इससे पहले कि उन्हें वैज्ञानिक जाँच का आधार बनाया जाये, ऐसी ही जाँच होनी चाहिये। शान्ति देवी की कहानी इस तरह नहीं जाँची गयी।

कोई आदमी पूछ सकता है कि हम ऐसा क्यों सोचें कि एक छोटी-सी बच्ची ने इतनी बड़ी कहानी बना डाली। लेकिन इसको दूसरी तरह से भी पूछा जा सकता है, गुस्से में आकर नहीं बल्कि पूरी सदाशयता के साथ, कि एक बच्ची द्वारा गढ़ी हुई कहानी, जो कि अन्धविश्वासों के वातावरण में पली हो, ज्यों की त्यों सही क्यों मान ली गयी? क्या यह नहीं सोचा जा सकता है कि ऐसी कहानी दूसरों के द्वारा गढ़ी गयी हो और उस लड़की के मुँह से कहला दी गयी हो। मनगढ़न्त बात जानबूझ कर की जा सकती

है, फिर भी वह मनगढ़न्त ही होगी। मैं नहीं कहता कि वह मनगढ़न्त थी पर सुझाव है कि ऐसी कहानियाँ मात्र मानगढ़न्त ही होती हैं।

कहानी की उत्पत्ति कैसे हुई। लड़की के पितामह और दूसरे लोग, जो पहले से उसे जानने का दावा करते थे, पहले से पुनर्जन्म में विश्वास करते थे, जब ऐसा है तो कहानी लड़की की कुछ छिटपुट बातों को आधार मान कर बनायी गयी होगी। इसलिये उन लोगों से, जिनके द्वारा कहानी पब्लिक में पहुँची, विस्तृत जिरह की जानी चाहिये थी। इस तरह से कहानी की काल्पनिक उड़ान उजागर की गयी होती तो इसके प्रमाणीकरण के बारे में जो बातें उछलीं वे न उछली होतीं। कहानी की उत्पत्ति चाहे जैसे हुई हो उससे सम्बन्धित व्यक्तियों का पुनर्जन्म में अटूट विश्वास था। यह तथ्य मात्र इस बात को मानने के लिये काफ़ी है कि जब तक कहानी पब्लिक में पहुँची उसमें तमाम काल्पनिक उड़ानें जोड़ दी गयीं। जो कहानी पब्लिक में पहुँची वह असल कहानी से, जो लड़की ने बतायी थी, बहुत भिन्न हो सकती है। अगर उस लड़की ने वाकई कोई कहानी कही हो तो यह सर्वविदित है। अपवादशुदा कहानियाँ प्रचार के जरिये रंग से बदरंग कर दी जाती हैं।

लड़की के होने वाले मथुरा निवासी रिश्तेदारों ने जब तक इस कहानी को नहीं सुना, वे लड़की की फेमिली से अनभिज्ञ थे। यह मुद्दा नहीं छुआ गया। यह इसलिये हुआ कि किसी ने भी कहानी की शुरूआत की जाँच की ज़रूरत नहीं समझी।

लड़की के गर्भ में आने के समय उसकी मां ने मथुरा की एक स्त्री की मृत्यु के बारे में सुना। अगर यह मान कर चलें कि उनका आपस में परिचय था तब तो इस क़िस्म के विचार और भी आसान हैं, खास करके जब मृत्यु लड़की के जन्म दिन पर हुई हो। एक परिचित को मृत्यु के बाद याद करके सोचा करती होगी कि मृत स्त्री ने उसकी लड़की के रूप में जन्म लिया है। विचार और भावनाएँ मां के गर्भधारण के समय दिमाग़ में बैठ जाती हैं।

बच्चा उन विचारों को विरासत में पा सकता है। यही वजह है कि उन बच्चों में, जो प्यार-दुलार के वातावरण में पैदा होते हैं और वे बच्चे, जो प्रजनन मशीनरी से पैदा होते हैं, के मनोवैज्ञानिक अन्तर स्पष्ट होते हैं। बाद में मां इस सम्भावना को सोचती रही होगी कि मृत औरत उसकी लड़की के रूप में जन्म लेगी और उस क़िस्म के विचार वार्तालाप में लायी होगी। मां के इस क़िस्म के व्यवहार से सम्भव है लड़की पहले से सोचे हुए विचारों के साथ पैदा हुई हो और मां से उन विचारों को विरासत में लिया हो। और उसके अवचेतन में पूर्वजन्म की स्मृति क़ायम रही हो।

इस कहानी ने जनता को इतना ज्यादा आन्दोलित किया और लड़की इतनी ज्यादा पूज्य बन गयी कि पटियाला के महाराजा ने उसका स्वागत किया। यहाँ पर मुझे भारतीय संस्कृति के ठेकेदारों की बौद्धिक क्षमता पर तरस आता है। कितने ही गम्भीर सवाल हैं जिनका पुनर्जन्म में आस्था रखने वालों को, सन्तोषजनक उत्तर पाने में कठिनाई होगी। हर आदमी अपने पिछले जन्म की घटनाएँ क्यों याद नहीं रखता। इस सवाल का संतोषजनक उत्तर न पाने से किसी एक व्यक्ति से पिछले जन्म की स्मरण शक्ति पाने पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को साबित कर देना ख़तरे से खाली नहीं है। मृत्यूपरान्त जीवन विश्वास का विषय नहीं है। उसे प्रयोग सिद्ध प्रणाली से देखा और परखा जा सकता है। अनुभवयुक्त नियम (इम्पेरिकल लॉज) अनुमानित व्यापकत्व पर आधारित होते हैं। मनुष्य का मरण कुदरती क़ानून है। क्योंकि हर आदमी देर-सवेर मरता है। मगर पुनर्जन्म के केस में हमसे कहा जाता है कि अपवाद से व्यापकत्व पर पहुँचें। यह बात गले से उतरने वाली नहीं है।

पुनर्जन्म को प्रयोगसिद्ध ढंग से साबित करने के लिये हमें यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि हर कोई पूर्वजन्म की याद क्यों नहीं रखता। ऐसे स्पष्टीकरण के अभाव में अनुभवयुक्त साक्ष्य इस सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। अगर स्मरण शक्ति पूर्वजीवन का सबूत है तो फिर सामान्य नियम यह है कि ऐसे

सबूत का अभाव है। जब तक इनके खिलाफ सम्पूर्ण साक्ष्य इकट्ठा न हो जाये, पुनर्जन्म का अनुभव एक बेमानी चीज़ है। ऐसा स्पष्टीकरण कभी नहीं किया गया क्योंकि ऐसा हुआ नहीं है।

अब दूसरी ओर चलें। हमारे धर्मग्रन्थ कहते हैं कि भूत और भविष्य को देखने के लिये आदमी दिव्य-दृष्टि से युक्त होना चाहिये। धर्मग्रंथ अकाट्य हैं। इसलिये आस्थावानों में विश्वास है कि केवल आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न लोग ही पिछली बातें याद रख सकते हैं। वास्तव में जो लोग ऐसा सोचते हैं उन्हीं की निगाह में शान्ति देवी नन्हीं शक्ति बन गयी। ऐसे आध्यात्मिक तत्त्वों का दावा आज के सभ्य युग में अज्ञानियों द्वारा ही किया जाता है।

कोई भी शिक्षित व्यक्ति पुनर्जन्म का ठेकेदार बन कर आध्यात्मिक शक्ति रखता दिखायी नहीं पड़ा, जिससे वह अपने विश्वास के अनुभव को व्यक्त कर सके। दिव्य-दृष्टि को हमारी भारतीय संस्कृति के सुगढ़ प्रचारकों ने भी नकारा है। दिव्य-दृष्टि उनमें भी नहीं पायी जाती जो अपने को आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न बताते हैं। वे बताते हैं कि अज्ञान और अन्धविश्वास ही दैवी शक्ति की कल्पना की रीढ़ है। मगर कहा जाता है हमारे स्वर्णिम युग में अनगिनत दिव्य-दृष्टि सम्पन्न लोग थे। ज़ाहिर है उस समय सबसे ज्यादा अज्ञान का साम्राज्य था।

ख़ैर दिव्य-दृष्टि का सिद्धान्त सवाल का जवाब नहीं है। मान्यता है कि दिव्य-दृष्टि सम्पन्न लोग वह देख सकते हैं जो दूसरे लोग नहीं देख सकते। मगर यह सिद्धान्त यह नहीं साफ करता कि हर कोई पूर्वजन्म की बात क्यों नहीं याद रखता। हम उन चीज़ों को याद रखते हैं जिन्हें हम पसन्द या नापसन्द करते हैं। जिन मामलों में मत वैभिन्य होता है उन्हें हम आसानी से भूल जाते हैं। इसलिये पिछले जीवन की याददाश्त आध्यात्मिक उत्थान का चिह्न नहीं बल्कि इसके विपरीत, उसमें अत्यधिक आसक्ति और अनुराग से हम यह मानने को बाध्य होते हैं कि जितनी अधिक आसक्ति होगी उतनी ही हमारी आध्यात्मिक दृष्टि स्वच्छ होगी। आम आदमी पिछले

जीवन को नहीं देख सकता। क्योंकि आत्म तेज उसके शारीरिक बन्धनों से घिरा रहता है। यह निष्कर्ष आमतौर पर आध्यात्मिकता के लिये ख़तरनाक है। अनुराग या आसक्ति सिर्फ़ जीवन के लिये नहीं बल्कि पिछले जीवन की स्मरण शक्ति के लिये आध्यात्मिक उत्कर्ष का चिह्न है।

अविवेक को विवेक में बदलना असम्भव है। पुनर्जन्म एक विश्वास की वस्तु है जिसकी उत्पत्ति एक अमर आत्मा की मान्यता पर निर्भर है। इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिकता के ठेकेदार अगर अपने ही तर्कों पर विज्ञान से लड़ाई लेने का ख़तरा मोल लेते हैं तो मूर्ख हैं। इसके अलावा बहुत से और सवाल हैं जिनका पुनर्जन्म के पक्षधर जवाब नहीं दे सकते। मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच क्या घटित होता है। आत्मा या सूक्ष्म शरीर किस तरह नये शरीर में प्रवेश करता है। एक भ्रूण अपने विकास के किस स्तर पर आत्मा को प्राप्त करता है। किस तरह नये शरीर की इच्छा पैदा की जाती है। और भी सवाल हैं जिनके पारम्परिक उत्तर वैज्ञानिक कसौटी को झेल नहीं सकते। लेकिन जब तक ये और तमाम ऐसे ही मुख्य प्रश्न सन्तोषजनक रूप से उत्तरित नहीं होते तब तक पुनर्जन्म को प्रदर्शित या प्रमाणित तथ्य बताना ख़ुद अन्धविश्वास है। अगर पुनर्जन्म और ऐसे अन्य आध्यात्मिक विश्वास, तथ्यों के प्रमाणित ज्ञान पर आधारित हैं तो फिर विज्ञान के खिलाफ जेहाद क्यों? विज्ञान कोई अन्तिम सीमा नहीं मानता। उसका दावा परम सत्य जानने का नहीं है। उसे अपने पूर्व स्थापित सिद्धान्तों को उखाड़ फेंकने में कोई पशोपेश नहीं होता, यदि वे परीक्षणों से उनके विरुद्ध बैठते हैं। अगर पुनर्जन्म एक सत्य के तौर पर साबित हो सकता तो साइंस उसे तुरन्त अपनी बाहों में समेट लेती।

आध्यात्मिक लोग यह नहीं कहते कि जीवन के प्रति उनके विचार वैज्ञानिक हैं। इसका मतलब है विज्ञान बेमानी है। विज्ञान के विरुद्ध उनके जेहाद का मतलब है कि जीवन को समझने के लिये विज्ञान दैवी शक्तियों को दूर रखता है और दैवी शक्तियों में विश्वास ही आध्यात्मिक

जीवन की जान है। अशरीर आत्मा दैवी ताकतों की कैटेगरी में आती है। यह कुदरती क़ानूनों के घेरे के बाहर की चीज़ है। विज्ञान सभी कार्य-कलापों को अनुमान के भरोसे समझने का प्रयत्न करता है और वैज्ञानिक अनुमान (हाईपोथिसिस) काम-चलाऊ कथन नहीं होते। वे तर्कसंगत और प्रमाणित करने योग्य होते हैं। अगर अनुमानित थ्योरी अनुभव और प्रयोगों की कसौटी पर सही नहीं उतरती है तो विज्ञान तुरन्त दूसरे स्पष्टीकरण ढूंढ़ने निकल जाता है। बेशक अपवाद नियम को शर्तिया तौर पर असिद्ध नहीं करते बल्कि कमी को बारीकी से देखने पर वे अपवाद नहीं रह जाते। पुनर्जन्म के सवाल पर विज्ञान अन्धविश्वास, अज्ञान और दिव्य-दृष्टि की चुनौतियों से परेशान नहीं होता। वह आसानी से शान्ति देवी जैसी काल्पनिक कहानियों को उजागर कर देता है। और बता देता है कि उनकी उत्पत्ति अज्ञान और अन्धविश्वास के वातावरण में होती है। वह आध्यात्मिक पूर्वग्रहों के कुठाराघातों से अपना बचाव कर सकता है जबकि विज्ञान से उसी की भूमि पर लड़ाई लड़ना अध्यात्मवाद के लिये काफ़ी महँगा पड़ेगा। हमला करना हमेशा सबसे उम्दा बचाव का तरीक़ा नहीं होता है। कभी-कभी यह बिलकुल मूर्खतापूर्ण और विध्वंसकारी भी होता है। अध्यात्मवादियों का वैज्ञानिकों के खिलाफ जेहाद इसी श्रेणी में आता है।

विज्ञान और विवेक, दूसरी ओर पूरी सफलता के साथ दुश्मन की भूमि पर लड़ाई लड़ सकते हैं। एक विवेकी कभी अध्यात्मवादी को चुनौती नहीं देता कि विज्ञान का मुकाबला अपनी भूमि पर करो। वह आध्यात्मिक विचारधारा की खामियाँ उजागर करता है और उसी के साक्ष्य के आधार पर निरस्त करता है। अध्यात्मवाद को ऊपर के मुद्दों की चुनौती स्वीकार करनी चाहिये।

सूक्ष्म शरीर का विचार पुनर्जन्म की विचारधारा में निहित है। एक तो यह विचार अशरीर आत्मा की विचारधारा के विरुद्ध है, दूसरे अगर सूक्ष्म

शरीर एक वास्तविकता होती तो गर्भधारण के सिद्धान्त के अनुसार निर्दोष और बेदाग़ होना चाहिये। यदि शारीरिक ढाँचा दैवी योजना में फालतू था तो फिर नर व मादा भी नहीं होने चाहिये थे। नर के बगैर किसी तरह काम चलाया जाता, सभी सूक्ष्म शरीर मां के ओम्ब में समा जाते, जैसे सन्तों और अवतारों के सिलसिले में कहा जाता है। एक समझदार नर के लिये क्या ही दुर्दिन होता। और स्त्री के लिये क्या ही दुखी जीवन। बिना दाम्पत्य प्यार और आनन्द के, जो स्त्री के दुख को बांट लेता है, वह फिजूल की प्रसव पीड़ा सहती। ताज्जुब है कितनी स्त्रियाँ कुंवारी मां बनना पसंद करतीं। फिलहाल कुदरत इतनी कठोर नहीं है।

एक नये शरीर का गर्भधारण एक शारीरिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में भ्रूण में सूक्ष्म शरीर का प्रवेश निषेध है। उत्पत्ति सम्बन्धी विज्ञान ने मनुष्य शरीर के विकास का बड़ी बारीकी से पता लगाया है। जब तक नया शरीर मां के गर्भाशय से बाहर नहीं आता उसका बाहरी दुनिया से कोई साबिका नहीं पड़ता।

सभी आध्यात्मिक गुणों की जड़ में जीवन होता है और एक निर्जीव पूरे तौर पर जड़ होता है। जो चीज़ जीवधारियों को जड़ पदार्थ से अलग करती है वह जीवन है और वह एक रासायनिक प्रक्रिया है। मादा रज×नर शुक्राणु=नव जीवन। इस प्रक्रिया में आत्मा का कोई काम नहीं। अगर वह अशरीर है, तब पुनर्जन्म के सिद्धान्त को जड़ मूल से त्यागना पड़ेगा। क्योंकि वह बिना सूक्ष्म शरीर के चल नहीं सकती। और सूक्ष्म शरीर अशरीर हो नहीं सकता।

अध्यात्मवाद के सिद्धान्त में और भी खामियाँ हैं। जीवधारियों का गर्भधारण दो जीवन-तत्त्वों के मिलन का नतीजा है—रज और शुक्राणु। अगर हर जीवित शरीर में आत्मा होती या यों कहें कि अगर आत्मा की मौजूदगी से जीवन की उत्पत्ति होती तो फिर हर गर्भधारण प्रक्रिया में दो आत्माओं की ज़रूरत होती। और एक आत्मा के साथ एक शरीर

जन्म लेता। तो फिर दूसरी आत्मा का क्या होता। उनमें से कौन-सी आत्मा, जो नये शरीर में प्रवेश के लिए झगड़ रही होती, स्थान पाती। दोनों आत्माएँ जो पुनर्जन्म की सवारी गांठने को झगड़ रही थीं उनका झगड़ा कैसे तय होगा। इस प्रकार पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कोई वजूद नहीं रखता।

दो जीवन तत्त्व जिनसे नया शरीर जन्म लेता है दो अलग-अलग शरीरों से आता है। अगर वे ज़रा-सी भी स्मरण शक्ति लेकर आते हैं तो यह स्मरण शक्ति उनके पिता और माता के शरीरों की हो सकती है जो उन लोगों के शरीरों में बढ़ी और पनपी। और विज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पुश्तैनी विशेषताएँ जैसे दिमाग़ी, भावनात्मक, यहाँ तक कि शारीरिक विशेषताएँ विरासत में आती हैं। लेकिन घटनाओं की याददाश्त का विषय उनमें शामिल नहीं है। यह सत्य सारे जीव संसार के विकास में ढूंढ़ा जा सकता है। आदमी का पिछला जीवन केवल दो ही जगह जिया जा सकता है। या तो पिता के शरीर में या फिर माता के शरीर में। यह वहाँ पर कणकोशिकाओं के रूप में जाता है जो कि दिमाग़रहित होने के कारण याददाश्त नहीं रख सकता। पिछला जन्म दो भिन्न शरीरों की ऐन्द्रिक ग्रंथियों में जिया गया होने से पूर्ण व्यक्तित्व के साथ जिये गये जीवन की घटनाओं की याददाश्त नहीं रख सकता।

फिर एक प्रश्न और है। नये शरीर के जन्म की प्रक्रिया में पुनर्जन्म सिद्धान्त का कोई स्थान नहीं। जीवन शरीर में बाहर से पम्प नहीं किया जा सकता। वह पितामह के शरीरों से मिलता है। जब ऐसा है तो आत्मा जो पुनर्जन्म ढूँढ़ती है, नये शरीर में प्रवेश नहीं कर सकती है। उसे गर्भ में पितामह के शरीरों में प्रवेश लेना चाहिये। और अगले गर्भधारण तक वहीं पर इन्तजार करना चाहिये। लेकिन जन्म कोशिकाएँ पितामह के शरीरों में पैदा होती हैं। वहाँ भी आत्मा का काम नहीं। इस प्रकार यह मानना कि आत्मा शरीर में रहने के लिये बाहर से आती है, एक मनगढ़न्त बात है।

एक बात उससे भी अद्भुत है—माना आत्मा बाहर से आती है तो उसे हर हालत में विभाजित हो जाना चाहिये। आधी मां के शरीर में और आधी पिता के शरीर में। वरना नये शरीर में प्रवेश हेतु उनका झगड़ा टाला नहीं जा सकता। फिर एक नयी मुसीबत पैदा होती है—इसकी क्या गारण्टी है कि दोनों की अर्ध-आत्माएँ एक साथ ही गर्भधारण के लिए पहुँचेंगी। क्योंकि जवानी की उम्र में शरीर अगन्ध्य जर्म्स सेल पैदा करता है। उसमें बहुत ही मामूली तादाद में जाकर नये शरीर में गर्भधारण करते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों अर्ध-आत्माएँ एक साथ ही गर्भाशय में पहुँचें इसकी क्या गारण्टी है।

यह विदित है कि नये शरीर के गर्भधारण से लाखों जर्म्स मर जाते हैं। जर्म्स सेल ऐंद्रिक ग्रन्थियों में पैदा होते हैं। वहाँ पर रहते हैं। और कुदरती प्रेम वासना पैदा करते हैं। उनको रोके रखने से आध्यात्मिक उत्थान नहीं बल्कि दिमाग़ी फितूर पैदा हो सकता है। तो उन अर्ध-आत्माओं का क्या होता है जो इस प्रकार पुनर्जन्म से पूर्व वंचित रह जाती हैं। वे दुबारा मौका पाने के लिये दूसरे उत्पन्न जर्म्स का इन्तजार करती होंगी।

प्रत्येक नया जर्म्स सेल एक मुकम्मल जीवित वजूद होता है। उसकी अपनी आत्मा होती है। लिहाजा वे बेघर आत्मा का सदन नहीं हो सकते। इन जर्म्स में से नया शरीर धारण करने का मौका महज कुछ सेल्स को ही मिलता है। और वह भी एक संयोगवश। इस प्रकार इन जर्म्स में से बहुत बड़ी संख्या पुनर्जन्म का मौका पाने से वंचित रह जाती हैं। वे बेचारे किस प्रकार अपने कर्म सिद्धान्त को तर्कसंगत बनाते होंगे।

अभी एक मसला और दरपेश रह जाता है। जो जर्म्स सेल शान्ति देवी को बनने के लिये गये थे, शान्ति देवी के माता-पिता के शरीर में बहुत पहले से मौजूद थे। जब वे शान्ति के रूप में गर्भधारण के लिये मां के गर्भाशय में पहुँचे, इसके बहुत पहले से शान्ति देवी की आत्मा पुनर्जन्म के लिये मथुरा में मरी स्त्री की मृत्यु से बहुत पहले से रास्ता देख रही

होगी। इन दोनों को आप एक साथ कैसे जोड़ेंगे। माना कि कहानी सत्य है और मथुरा की स्त्री शान्ति देवी के जन्म से थोड़ा पहले मरी। तो इस कथन से पुनर्जन्म का विश्वास कहाँ पर सही साबित होता है। मथुरा वाली आत्मा को शान्ति देवी के रूप में जन्म लेने के लिये उसे उसके गर्भधारण से बहुत पहले मरना चाहिये था, जब कि वह औरत तब भी जिन्दा थी जब शान्ति देवी का सूक्ष्म शरीर या तो माता-पिता के शरीरों में आधा- आधा निवास कर रहा था या उसकी मां के गर्भाशय में मिलकर एक हो चुका था।

इस मुसीबत से छुटकारा पाने के लिये यह मानना ज़रूरी हो गया कि मृत स्त्री की आत्मा शान्ति देवी के शरीर में सीधे प्रवेश कर गयी हो। मगर यह कथन वैज्ञानिक कथन नहीं है। क्योंकि जर्म्स सेल और मनुष्य गर्भ बिना बाहरी आत्मा के होता है। अगर लड़की के गर्भधारण में लगे जर्म्स में पहले से ही आत्मा थी तो फिर मथुरा से आयी आत्मा को उसमें घुसने की जगह नहीं हो सकती। या यों कहें कि पहले से क़ैदी आत्मा को वहाँ से क्यों हटाया जाये।

शुरू शुरू में चेतन तत्त्व को सुलझाने के लिये आत्मा का निर्धारण किया गया था। आज वह सब बिना किसी आध्यात्मिक धारणाओं के सुलझा लिया गया है। जीवन एक विशेष पदार्थीय शरीर के रासायनिक संगठन से सम्बन्धित यान्त्रिक प्रक्रिया है। उसमें आत्मा का कोई स्थान नहीं। आत्मा की स्थिति तब निराशाजनक न होती अगर गर्भाधान की विकास-प्रक्रिया में कहीं पर गैप की कोई गुञ्जाइश होती। तब यह कहा जा सकता था कि इस गैप में यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा आत्मा पिंड में समा जाती है। मगर धन्य है अपने आप में मुकम्मल भ्रूण विकास प्रक्रिया कि उसमें कहीं भी गैप नहीं है।

एक आत्मा शरीर में कैसे प्रवेश कर सकती है? इस सवाल को और ऐसे ही जुड़े हुए अन्य सवालों का सही उत्तर पाने के कारण अध्यात्मवादियों

को छिपने के लिये अब कोई जगह नहीं मिलती जहाँ से वे विज्ञान के खिलाफ जेहाद छेड़ सकते। वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को निरस्त नहीं कर सकते। वैज्ञानिक तर्क किसी विकल्प के अभाव में नहीं बल्कि अपने गुण-दोषों के आधार पर खड़ा है।

वैज्ञानिक ज्ञान के पदार्पण से अध्यात्मवाद की मृत्यु घण्टिका बज उठी है। आज यह मात्र एक पूर्वग्रह के रूप में मौजूद है। क्योंकि अन्धविश्वास बहुत ही कठिनाई से दूर हो पाते हैं।

आज भी बहुसंख्यक भारतीय पूर्व वैज्ञानिक युग में रह रहा है। इसलिये चमत्कार, तन्त्र, रहस्यमय दैवी चीज़ों में विश्वास बना चला आ रहा है। आज शिक्षित और बुद्धिजीवी अज्ञान से इस कदर लदा हुआ है कि विज्ञान के दीपक तले, वे ख़ुद अन्धविश्वास और अन्ध मान्यताओं के ठेकेदार बने घूमते हैं जबकि विज्ञान के खिलाफ जेहाद खड़ा करना व्यर्थ की कसरत है। यदि भारत को जिन्दा रहना है तो इस विचारधारा की पैरोकारी खत्म करना ज़रूरी है। पुनर्जन्म में विश्वास भाग्यवाद को बढ़ावा देता है और भाग्यवाद पहल करने व आगे बढ़ने की प्रवृत्ति को खत्म करता है। आध्यात्मिक संस्कृति ने भारतीयों को अकर्मण्य बने रहना सिखाया है। उनमें आमूल सोच का माद्दा नहीं रह गया है। उन्हें क्रान्ति करनी पड़ेगी, उद्यत होना ही पड़ेगा वरना अपनी संस्कृति की दुहाई देकर दुनिया को संवारने के बजाय वे ख़ुद अन्य प्राचीन संस्कृतियों की तरह स्मृति के गर्भ में समा जायेंगे। भविष्य को जीतने के लिये भूत को हर हालत में छोड़ना ही होगा। भारत के लोगों को यह प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि आदमी अपनी तकदीर ख़ुद बनाता है। क़िस्मत, कर्म, पुनर्जन्म, निष्काम, आत्मा, भगवान की मर्जी यह सब भूतकाल के प्रेत हैं। इन भूतों को दफनाना ही होगा। तभी भारत भविष्य में मौजूद चुनौतियों का सामना कर उस पर विजय प्राप्त कर सकेगा।

सिद्धपुरुषों का मनोविज्ञान

धार्मिकता कोई भारत की बपौती नहीं। यह इस देश में इतनी ज्यादा इसलिये पाई जाती है क्योंकि भारत के अलावा किसी अन्य देश में इतनी अज्ञानता नहीं पाई जाती है। धार्मिकता और अज्ञानता इत्तिफाक से परस्पर जुड़े हुए हैं। इसके अलावा जिसे हम धार्मिक स्वभाव कहते हैं वह अभ्यास द्वारा अर्जित आदत है। इसलिये शिक्षित लोगों में, जो तमाम मूढ़विश्वास छोड़ने में समर्थ हैं धार्मिकता बराबर पायी जाती है। इसलिए यह एक ऐच्छिक वस्तु है। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसका बहुत ही दिलचस्प इतिहास है।

आत्मा, मस्तिष्क, और व्यक्तित्व अनुभवगम्य वस्तुओं की तरह स्थिर वस्तुएँ नहीं हैं। यह विगत अनुभवों का समुच्च मात्र हैं जिसका बड़ा भाग अवचेतन में पड़ा रहता है। भावनात्मक और आध्यात्मिक जीवन पर अवचेतन मन में दबी प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है। इसलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया गूढ़ बन जाती है।

जिस समय भारत में शान्ति देवी की कहानी का बोलबाला था उसी समय एक अमेरिकन पत्रिका 'धार्मिक अनुभव' में एक लेख निकला। उस लेख में भी उस महान् भौतिकवादी भूमि की एक लड़की की ही कथा थी। विषयवस्तु से यह पता चला कि वहाँ भी धार्मिक भावना को अच्छी मिकदार में बढ़ावा दिया जाता है और कैसे पूर्वग्रही विचारों को रहस्यमय धार्मिक अनुभवों की कोटि में पहुँचाया जाता है, जो अर्धनिद्रा की स्थिति से बढ़ कर कुछ नहीं। ऐसे अनुभव भारत में जानी पहचानी चीज़ है गो कि वे शायद ही कभी दोष-दृष्टि से देखे जाते हों, या मनोवैज्ञानिक परीक्षण हेतु आँकड़ों के रूप में इकट्ठा किये जाते हों। मूढ़ और अन्धविश्वासी जन उनमें दैवी शक्ति का प्रकाश देखते हैं और

धार्मिकता को और अधिक घनीभूत करते हैं। यह बात न केवल अशिक्षितों पर लागू है बल्कि संदेहशून्य शिक्षितों पर भी लागू है।

अमेरिकन लड़की के अनुभवों का लेखा भी अन्धविश्वासों का एक उदाहरण है। लेकिन भारत से भिन्न सामाजिक वातावरण में हुई इस घटना का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण दिया गया। कुछ भी हो वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के सामने लड़की की अभ्यस्त धार्मिक भावना व अन्ध-आस्था अडिग रही।

एक सत्रह साल की लड़की अपने मां-बाप के साथ उद्धारवादी सभा में गयी। सर्दी के दिन थे, लड़की कमजोर बदन की थी। मां-बाप ने मना किया पर वह नहीं मानी। वहाँ उपदेश का एक अंश इस प्रकार था 'अन्तिम दिनों में अपनी आत्मा निकाल लूँगा और तब युवक भविष्यवाणी करेंगे और युवतियाँ सपनों में स्वप्न देखेंगी।'

जैसे ही उपदेशक ने सभा को उन्मत करने के लिए प्रेरित किया, जैसा कि ऐसी सभाओं में होता है, लड़की एकदम उठी और दौड़ कर मंच पर ढेर हो गयी। वह मूर्छित थी जिसे भारत में समाधि अवस्था कहते हैं। सारी रात भीड़ चर्च में जमा रही। और तरह-तरह की दुआ की गयी। फिर मूर्छित लड़की को घर लाया गया। वहाँ भी उसकी वही दशा रही। मां-बाप ने उसे अस्पताल ले जाने से मना कर दिया। वे पूरी तौर से आश्वस्त थे कि लड़की ईश्वर का साक्षात्कार कर रही है। बाप ने गर्व से कहा कि लड़की की यह दशा शारीरिक पापों के हनन से हुई है।

चिकित्सकों ने बताया कि लड़की का जीवन ख़तरे से बाहर है। डॉक्टरों की जाँच में कोई परेशानी की बात नहीं मिली—शारीरिक दशा सन्तोषजनक थी। मानस रोग विशेषज्ञों ने बताया कि लड़की केवल धार्मिकता को प्रोत्साहित करने पर जवाब देती है। जब कोई प्रार्थना गायी जाती तो लड़की की नाड़ीगति तेज हो जाती। और उसके रूखे होठों पर धीमी मुस्कराहट फैल जाती। उपदेशक द्वारा उत्सुक और तीक्ष्ण

प्रार्थना के लिये कहने पर उसके दोनों हाथ विनीत भाव से उठ जाते, बाक़ी शरीर ज्यों का त्यों पड़ा रहता। उसने अपने हाथ 40 मिनट तक उसी के सामने रख छोड़े जबकि भीड़ के दूसरे लोग 10 मिनट में ही थक गये, जैसा कि स्वाभाविक है। उपदेशक ने इसे चमत्कार बताया। और कहा कि यह दैवी शक्ति का प्रकाश है जो ईश्वर से साक्षात्कार करने से प्राप्त हुआ है। सभा में उपस्थित लोगों ने उसे हूबहू मानकर अपनी प्रार्थना गति बढ़ा दी।

पूरे 6 दिन मूर्छित अवस्था में रहने के बाद लड़की जगी और ऐलान किया कि 'मुझे ऐसा लगा कि मैं बादलों में खड़ी थी, और पृथ्वी मेरे नीचे थी और वहाँ से मैंने स्वर्ग को देखा। मैंने देखा कि ईश्वर श्वेत पथ पर मेरी ओर चले आ रहे हैं।' उसने यह भी बताया कि अभी हाल में उपदेशक के मृतक बच्चे को भी उसने वहाँ देखा जो सफेद वस्त्र पहने रास्ते पर लगे फूल चुन रहा था।

यह रहस्यात्मक अनुभव इस देश में मामूली लोगों के लिए नहीं बल्कि पूरे समाज के लिये काफ़ी होता। शिक्षित लोग इसे पढ़ कर चुनौतीविहीन सर्वातिशाई सिद्धान्त की सत्यता की डींग मारते और विज्ञान की पहुँच के बाहर का सत्य मानते। और लड़की की मनोदशा, जो उसे मूर्छित अवस्था में ले गयी, उसके अन्धविश्वासी विचार, उसका क्षीण स्वास्थ्य, जिसमें आसानी से दौरा पड़ सकता था और उसकी सामान्य पिछड़ी प्रवृत्तियों को ध्यान में न रख कर उसे एक सती-साध्वी का दरजा दिया जाता, तो अनुयाइयों की भीड़ जमा करने का सामर्थ्य रखती और उनमें से अच्छे-खासे अनुयाई शिक्षित वर्ग के होते। जो आज भी शिक्षा के प्रभाव से ज़रा भी परेशान नहीं। और अपनी आस्था में विवेक का इस्तेमाल मुनासिब नहीं समझते।

आज के सभ्य देशों में धर्म केवल उचित स्थानों पर ही रह गया है—जैसे अनपढ़, अशिक्षित और कम दिमाग़ लोगों में। वहाँ पर धार्मिक भावना

वही लोग जगाये हुए हैं, जो आधुनिक ज्ञान से वंचित रह गये हैं। या जीवन संघर्ष में हार मान बैठे हैं। भारत में धार्मिक प्रोत्साहन आधुनिक तौर पर शिक्षित मध्यवर्गीय विद्वानों द्वारा दिया जाता है। उनका विचार है कि धार्मिकता अनवरत अभ्यास से प्रस्फुटित होती है। इसलिये अप्रकट और गूढ़ अनुभव, जो आसानी से समाज रूपी समुद्र में, बतौर अन्धविश्वासों के घुलमिल जाते हैं, बुद्धिजीवियों द्वारा पूरे वेग से प्रचारित किये जाते हैं।

एक योग्य युवक, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुआ, की संशयशीलता एक अपढ़ व्यक्ति के गूढ़ अनुभवों के दावों के साथ बह गयी। जो यदि मानस रोग शास्त्रियों को दिखाया जाता तो वे उसका मुकाबिला उसी अमेरिकन लड़की के साथ करते। इन दोनों मामलों में ईश्वर से साक्षात् का दावा किया जाता है। विज्ञान को इन दावों को समझने में कोई कठिनाई नहीं है। ऐसे अनुभवों के पीछे मात्र अन्धविश्वास मौजूद होते हैं जो जाति तौर पर (सब्जेक्टिव) सही माने जा सकते हैं, बाहरी दुनियाँ (आब्जेक्टिव वर्ल्ड) में उनकी सत्यता का कोई अनुभव नहीं हो सकता। यह दिमाग़ी शून्यता है। मोहनिन्द्रा है। वास्तविकता को पाने के लिये दिमाग़ी ख़ब्त है।

आदमी का रुझान और प्रवृत्ति ही अप्रकट अनुभवों की जननी है। एक स्वतन्त्र आदमी भी पूर्वग्रहों से लैस हो सकता है। खब्ती और मोहनिन्द्रा की हालत शारीरिक इच्छाओं को रोकने और सामान्य दिमाग़ी प्रक्रिया को दबाने से पैदा होती है। सामान्य अप्रकट अनुभवों की प्रवृत्ति विपरीत सुझावों द्वारा जगायी जा सकती है। वैसे भी इन लोगों में ये प्रवृत्तियाँ मौजूद रहती हैं, मगर ज्ञान से आच्छादित रहती हैं। आदमी की ढुल-मुल यक़ीनी को धार्मिक अनुभवों के दावे से पक्का कर दिया जाता है। यह काम गुरु अपने चेले को मोहनिन्द्रा की स्थिति में लाने का दावा करके पूरा करता है। और छुपी हुई प्रवृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं।

धार्मिक अनुभवों में निहित तथ्य, चाहे वे अपने आप हों या श्रम साध्य, मात्र खयाली पुलाव ही होते हैं। इस प्रक्रिया में बाह्य दृश्यों से, जिन पर सामान्य व्यक्ति का ध्यान जाता है, ध्यान हटा कर केवल एक विशेष वस्तु पर केन्द्रित किया जाता है। फिर भी इस अनुभव में कुछ भी गूढ़ नहीं होता। यह एक मनोवैज्ञानिक अवस्था होती है, जो अपने आप पैदा की जाती है। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक अवस्था दिमाग़ी या शारीरिक अवस्था में बदली जा सकती है। संवेदनाएँ अन्दरूनी ग्रन्थियों के रसस्राव से पैदा होती हैं, जो प्रकारान्तर से खुद भावनाओं से प्रभावित होती हैं। मनोवैज्ञानिक अवस्था में, जिसे धार्मिक लक्षण माना जाता है, सामान्य मस्तिष्क में मदहोशी या सुस्ती आ जाती है और अपनत्व का ज्ञान अवचेतन के स्वप्नलोक में विचरण करने लगता है। खब्ती लोगों में अपने आप आलस्य व सुस्ती छा जाती है। दौरा पड़ना आम तौर पर धार्मिक अनुभव न होकर एक बीमारी है। समाधि दिमाग़ी आलस्य है जो अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। यह बीमारी की ही एक क़िस्म है। समाधि में लोग वाँछित वस्तु खयालों में देखा करते हैं जो स्वप्निल अवस्था में खब्ती के खयाल और मोहमुद्रा व मतिभ्रम से ज्यादा कुछ नहीं होती है। एक आदमी जो चाहे वह देख सकता है। बशर्ते वह उसमें ज़रूरी आस्था रखता हो। गाँव का पुजारी हर झाड़ी में प्रेत देखता है क्योंकि वह बचपन से सुनी हुई वैसी कहानियों में विश्वास करता है। स्वप्निल अवस्था में विचरण करने के लिये सिर्फ़ अपने दिमाग़ की सामान्य क्रिया (फंक्शनिंग) बिगाड़नी पड़ती है।

चेतनत्व की पूर्णता प्राप्त करना, उन वास्तविकताओं तक पहुँचना है जो सामान्य दिमाग़ी क्रिया की पहुँच से बाहर हैं। यह मात्र मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह या तो रोगी अवस्था से सम्बन्धित होती है, जैसा कि मूर्छित अवस्था में होता है या दिमाग़ी क्रिया को वस्तु विशेष पर उसी ओर लगा देने से पैदा होती है। हर हालत में सामान्य दिमाग़ी क्रिया

(सेरीब्रेल कार्टेक्स) में कुछ सुस्ती या विघ्न पड़ता है उस समय दिमाग़ की निचली सतह पर मनोवैज्ञानिक क्रिया काम करती होती है। दूसरे शब्दों में सामान्य दिमाग़ी क्रियाओं के ऊपर मस्तिष्क के नाड़ी मण्डल की आदिमयुगीन क्रियाएँ वर्चस्व पा जाती हैं। आदमी की विवेकपूर्ण क्रियाएँ उसके मस्तिष्क के ऊपरी भाग में होती हैं। जब वह भाग मूर्छित होता है या सुस्ती और मोहनिन्द्रा से ग्रसित होता है तो उसकी सभी विवेकपूर्ण क्रियाएँ और दिशा निर्देशन समाप्त हो जाते हैं और सहज स्वभाव का, कैलीडोस्कोप के चित्रों जैसी आकृतियों से जो कि नाड़ी मण्डल की क्रिया से बदलते रहते हैं, मुकाबला होता रहता है। इस प्रकार बुद्धि और विवेक की क्रिया थम जाती है। यह व्यवस्था अन्य आदिम प्रवृत्तियों की अवस्था होती है। दिमाग़ में दिखने वाली आकृतियाँ जो अज्ञानजनित होती हैं, वैसी ही असली दिखने लगती हैं जैसे हमें बाह्य संसार में दिन प्रतिदिन के अनुभव होते हैं। शारीरिक प्रवृत्ति में रुकावट, इच्छाओं का दमन, यह सब बदल कर गूढ़ आकृतियाँ और भावनाएँ बनती हैं।

इस प्रकार जिसे हम धार्मिक अनुभवों से प्राप्त परमानन्द कहते हैं उस अवस्था में चेतन सर्वोच्च स्थान पाने के बजाय निम्नतम आध्यात्मिक स्तर में डूब जाता है। क्योंकि अलौकिकता प्राप्त करने की स्थिति में आदमी की सारी सामान्य दिमाग़ी क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। आज मनोविज्ञान बताता है कि सामान्य दिमाग़ी क्रियाओं के अलग होने के माने हैं दिमाग़ (सेरिब्रेल) में सुस्ती और आलस्य आना, जहाँ पर शारीरिक (बायोलोजिकल) प्रतिक्षेपण सर्वोपरि होते हैं। उस अवस्था में वह दैवी शक्तियों की बजाय पाशविकता के अधिक नजदीक पहुँच जाता है। चेतना को दबाने से जो दैवी शक्ति उत्पन्न होती है वह असल में न तो दैवी है न रहस्यमय। वह जीवन शक्ति होती है जो आदमी जीवन संसार में महसूस करता है और वह शक्ति एक क़िस्म की शारीरिक ऊर्जा है।

आदमी अन्य जीवधारियों से जुदा होता है। क्योंकि आदमी के शरीर में एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का संचार होता है जो उसे चराचर में व्याप्त शारीरिक (बायोलोजिकल) विषयों से ऊपर उठा देती है।

अगर शक्ति को जीवन से अलग माना जाये तो वह सिर्फ़ फिजूल का एक नाम रह जायेगी। मनुष्य शरीर में बजाय जीवन और मस्तिष्क के अन्य कोई दृश्यगत शक्ति नहीं होती। धार्मिक अनुभवों का उद्देश्य दृश्यगत वस्तु (आब्जेक्ट) होना चाहिये वरना अनुभव करना एक निरर्थक नाम रह जायेगा। गीता में योग, आत्मा और मन से प्राण को अलग करता है। और हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों का गीता में सम्मिश्रण है। उसके दूसरे पाठ में कृष्ण कहते हैं—'जीवन न मार सकता है और न मर सकता है।' जाहिर है जीवन यहाँ पर आत्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। अगली पंक्ति उसे और भी साफ कर देती है। वहाँ पर आत्मा में एक से अधिक गुण सम्बन्ध किये गये हैं—'आत्मा न कभी पैदा होती है और न वह कभी मर सकती है।' इत्यादि इत्यादि। बेशक आत्मा का विचार आध्यात्मिकता से या ब्रह्मवाद से है। इसका वजूद जीवन प्रक्रिया से स्थापित किया जाता है। दैवी शक्ति, इस प्रकार, वही है जो जीवन है। आधुनिक विज्ञान ने जीवन प्रक्रिया सम्बन्धी सभी रहस्य उद्घाटित कर दिये हैं। शक्ति एक पशु शक्ति है जो आदमी में बुद्धि और विवेक के गुण पैदा करती है। इस प्रकार धार्मिक अनुभव आदमी के अन्दर पशु का अनुभव है। पाशविक गुण बदलते रहते हैं। अज्ञानजनित दिमाग़ी आकृतियाँ अलौकिक वास्तविकताएँ बन जाती हैं। पूर्वग्रह असली आकृतियों का रूप ले लेते हैं। आस्था की भट्ठी से तथाकथित सत्य प्रकट होने लगता है।

इस बनावटी अवचेतन अवस्था में स्वानुभूति और व्यक्तित्व, जीवन शक्ति से एक यांत्रिक शल्य क्रिया का अनुभव करता है। नाड़ी मण्डल के प्रक्षेपण कार्य (रेफ्लेक्शन ऐक्शन) जो सामान्य जीवन की नींव है मनोवैज्ञानिक

न होकर शारीरिक क्रिया है—बायोलोजिकल फंक्शन। अगर शुद्ध मस्तिष्क द्वारा आदमी की दैवी शक्ति प्रवाह के अनुभव में बाधा पड़ती है तो फिर पशु जीवन शक्ति से इसकी यकसानियत टाली नहीं जा सकती। बुद्धिमत्ता आदमी को निम्न श्रेणी के पशुओं से अलग करती है। यह सहज दिमाग़ी कार्य है। और इस सहजता को दबाना मनुष्य को निम्न श्रेणी की ओर ले जाना है, न कि अलौकिकता की ओर। अलौकिकता एक मनगढ़न्त चीज़ है जो वास्तव में अवचेतन है। आधुनिक जीवशास्त्र ने खुलासा कर दिया है जीव सम्बन्धी पूर्वग्रह दब जाने के बाद पुनः उभर आते हैं। जीवन सम्बन्धी विश्वास की मान्यता है कि जीवन में एक आकाँक्षा होती है जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति है। मगर इस क़िस्म का कोई दृश्यगत प्रमाण नहीं मिलता है। जो साक्ष्य मिलते हैं वे सब इसके उल्टा हैं। सिवा बड़े पशुओं में जिनके दिमाग़ विकसित होते हैं, जीवन एक अन्ध प्रवृत्ति मात्र है। जीव सिद्धान्त विश्वास बिना किसी दार्शनिक आधार के शुद्ध तार्किक भूमि पर खड़ा है। इसका तर्क है उच्च श्रेणी के पशुओं में दिमाग़ी क्रिया साबित करती है कि बुद्धि जीवन शक्ति में ही निहित है, व्याप्त है। यह तर्क ग़लत है अगर कोई सर्वोत्तम और सर्वदिववाद पर रुक नहीं जाता तो यह सिद्धान्त उसे अथाह समुद्र में ले जाकर डुबो देगा। क्योंकि विज्ञान इनमें से किसी सिद्धान्त के पक्ष में नहीं है।

इसके अलावा तर्कसम्मत सर्वदिववाद औंधा करने पर भौतिकवाद बन जाता है। जब संसार को निचोड़ कर मात्र एक तत्त्व, जिसे परस्पर आत्मा कहो या स्थूल पदार्थ—लाते हो तो, शरीर, आत्मा, मनस, बुद्धि, अन्तर्ज्ञान के बीच का अन्तर निरर्थक हो जाता है। धार्मिक अनुभव की पूर्व शर्त ही द्वैतवाद है। व्यक्तिगत आत्मा को शरीर के बन्धनों से हर हालत में आजाद होना चाहिये। ताकि वह विश्वात्मा में विलीन हो सके। इस तर्क की असंगति एक अद्वैतवादी को बहुत ही बुरी व्यवस्था में पहुँचा देती है। शंकराचार्य ने माया को शक्ति बताया तो फिर संसार

एक साथ सत्य और असत्य कैसे हो सकता है। दार्शनिक ब्रेडले कहता है, 'आकृतियाँ झूठी होती हैं पर उसका वजूद है'। फिर कोई चीज़ वजूद में है तो आत्मा नहीं है यह सर्वात्मा और सर्वदेववादी विचारधारा का अन्तर्विरोध है। जीव सम्बन्धी विचारधारा तर्कसम्मत नहीं है यानी उसका आधार ठोस नहीं है क्योंकि उसमें उपरोक्त अन्तर्विरोध मौजूद है। तर्कसम्मत रूप से भी जैविक विचारधारा विकासवादी जीवशास्त्र के सामने बेकार है।

'निकल कर प्रकट होने' का सिद्धान्त सिद्ध करता है कि किस तरह चेतना एक नयी चीज़ की तरह दिखायी देती है। मगर मुद्दा यह है कि आध्यात्मिक विकास के तराज़ू पर जैविक द्वन्द्व में मनस अन्तर्ज्ञान से ऊपर उठता है। मनस बुद्धि का निष्कर्ष है, जो जीवन की प्रवृत्ति में छुपा रहता है। दूसरे शब्दों में मनस जीवन की शक्ति की सर्वोच्च अवस्था है—अन्तिम अवस्था। यह हो सकता है कि इससे भी ऊँची अवस्था विकसित कर दी जाये। मगर फिलहाल हम उसके बारे में नहीं जानते। वर्तमान में भविष्य के बारे में सोचा जा सकता है। इसलिये शक्ति का प्रवाह उसे बीच में अनुभव करता है। जब सामान्य दिमाग़ी क्रिया मुअत्तल कर दी जाती है, वह निम्न श्रेणी की जीवन शक्ति में प्रकाशित होती है। अगर जीवन शक्ति में कोई चीज़ दैविक होती तो उसे उच्च श्रेणी के जीव में भी प्रकाशित होना चाहिये था। जीवन में गूढ़ या आध्यात्मिक शक्ति हो या न हो बुद्धिमत्ता ही सर्वोच्च प्रकाश है। इस प्रकार अवचेतन को लौट जाना आध्यात्मिक ऊँचाई नहीं कहा जा सकता। वह एक क़िस्म की गिरावट की क्रिया है। धार्मिक अनुभव वगैरह मनोवैज्ञानिक उन्माद है, एक बनावटी मेन्टल रोग है। अन्धविश्वास केवल असामान्यता को बढ़ावा दे सकता है। सिद्धपुरुषों को आकृतियाँ दिखाई पड़ना, अवधूत को मस्ती में होना, हिस्टीरिया के मरीज को जुंग सवार होने जैसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

अब नाड़ी मण्डल या स्नायु तन्त्र में खराबी के कारणों और निदान की खुलासा जानकारी में कोई ग़लतफ़हमी नहीं रह गयी है। शरीर और मनोविज्ञान सम्बन्धी जटिल रोग अवस्था के बीच जो अन्तर है उस पर बहुत रोशनी पड़ चुकी है। उससे पता चला है कि धार्मिक अनुभव मोह निद्रा का एक स्वरूप है। असामान्य भावनात्मक मनोदशा या तो बाहरी उत्तेजकों द्वारा पैदा होती है या उस आदमी में छिपे हुए अवचेतन से आती है। यह तथ्य जानने के लिये मूर्च्छित (हिस्टेरिकल) अवस्था के लक्षण, जो अर्धनिद्रा में पैदा होते हैं, का मुकाबला गूढ़ अनुभवों के लक्षणों से करना चाहिये।

हम रामकृष्ण परमहंस की मिसाल लें जो कि इतने निरापद और ग्राह्य थे कि उनसे बड़े बड़े दिग्गज, बुद्धिवादी प्रभावित हो जाते थे। उनका हाथ धातु के स्पर्श मात्र से ही झन्ना उठता था। उनके अनुसार इस प्रक्रिया का कारण धन की ओर विमुखता थी। क्योंकि वह सांसारिक भोग का केन्द्र बिन्दु है। इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष रूप से स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। यह प्रक्रिया ठीक वैसे ही है जैसे आँख की ओर कीड़ा आते ही पलक अपने आप झपक जाती है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि हाथ का झन्ना उठना एक उच्च भावनात्मक स्तर का प्रतीक है। और उससे मात्र शारीरिक भावनाओं का स्वभाव ही साबित होता है। हाथ का झन्नाना दिमाग़ी प्रक्रिया (सेरिब्रेल) से परिचालित होता है। धन बुरी चीज़ है। उसे जोड़कर रखना दुनियादारी की ओर ले जाता है जो कि आध्यात्मिक जीवन के लिये हानिप्रद है। इसलिये इसे टालना चाहिये—यह उनका तर्कसम्मत निष्कर्ष है पर यह अवचेतन दिमाग़ की क्रिया है जो भावनात्मक संवेगों से आच्छादित है। इसमें उस व्यक्ति के अवचेतन से आदेश मिलते हैं जहाँ शुद्ध दिमाग़ी विचार—दौलत बुरी चीज़ है—छिपे हैं। खाली धन की विमुखता से, अगर विवेकपूर्ण विचारधारा निकलती है तो हिप्नोसिस पैदा नहीं होती है। धन को दूर रखने की विवेकपूर्ण इच्छा से फिजिकल

रेफ्लेक्स पैदा नहीं होंगे। क्योंकि विवेक तुरन्त धन और धातु में फ़र्क़ निकाल देगा। जब परमहंस ने कुछ सिक्के नदी में फेंके, उस समय वह विवेकपूर्ण स्थिति में थे। जेवर-गहनों से हाथ पाँव खींच लेना भी विवेकपूर्ण व्यवहार है। लेकिन यह सोच लेना कि किसी धातु के छू लेने मात्र से वह भ्रष्ट हो जायेंगे क्योंकि सिक्के धातु के बने हैं, बिलकुल बेवकूफी की बात है। धन की बुराई से सम्बन्धित मूल विचार अविवेकी भावनाओं में खो जाता है जो किसी विवेकपूर्ण विचार की सहज अभिव्यक्ति, एक शारीरिक क्रिया, है—रेफ्लेक्स ऐक्शन। और जब वह असामान्य रूप धारण कर लेती है जैसे हाथ झन्ना उठना, जो कि भावातिरेक से पैदा होती है, तो यह हिस्टीरिया की निशानी है। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि हम अपना हाथ किसी जलती हुई चीज़ से तुरन्त हटा लें लेकिन कोई व्यक्ति आपको देख कर भागता है या जलती वस्तु को देखकर उसमें कोई शारीरिक अपंगता आ जाती है तो उसका व्यवहार न कुदरती तौर पर शारीरिक है न बौद्धिक। साफ शब्दों में वह एक हिस्टीरिया का मसला है और डॉक्टरी इलाज का मुश्तहक है। उसी प्रकार किसी धातु के छू जाने से हाथ में फालिज मार जाये तो वह मामला हिस्टीरिया की बीमारी का है। यह एक शारीरिक प्रक्रिया (फिजिकल फिनामिना) है। और उसका शरीरीकरण होना चाहिये।

यह मानना कि ऐसा आध्यात्मिक शक्ति से पैदा होता है, अध्यात्म शक्ति की ही मिट्टी पलीद करना है। किसी हाथ में फालिज मारना चाहे वह कोई महात्मा का हाथ क्यों न हो, उसका कारण शारीरिक (फिजियोलोजिकल) ही होगा। तो झन्नाने का कारण बेबाक तौर पर रोगयुक्त है। अगर वह सीधे शारीरिक (फिजिकल) कारण है, जैसे इलेक्ट्रिक शॉक आदि, तो फिर साफ तौर पर यह मामला मनोवैज्ञानिक रोग का नहीं है। भावना एक शारीरिक प्रक्रिया है। इसलिये वह शारीरिक व्यवहार को प्रभावित करती है। भावनात्मक संवेगों से शरीर की सामान्य

क्रियाओं में हलचल मच जाती है। असामान्य शारीरिक व्यवहार, दिमाग़ के विवेकपूर्ण कन्ट्रोल (न्यूरल एक्टिविटी) के अभाव में पैदा होता है। इस कन्ट्रोल के अभाव में दिमाग़ी ऊर्जा या नर्वस एनर्जी का सामान्य रूप से बंटवारा नहीं हो पाता है। सामान्य शारीरिक विभागों में उसके बहाव का वेग बढ़ जाता है और अदृश्य रूप में उन विभागों की प्रतिक्रियाएँ घट बढ़ जाती हैं जैसे दिल की धड़कन का बढ़ जाना, आंसुओं की धार निकलना, पसीने-पसीने हो जाना, इत्यादि-इत्यादि।

तो शरीर में इस प्रकार के असामान्य व्यवहारों का, जिन्हें रहस्यपूर्ण अनुभव बताया जाता है, स्पष्टीकरण उपरोक्त प्रकार है। जिस भावनात्मक अवस्था में वे दिखायी देते हैं वह कोई आध्यात्मिक उत्थान की अवस्था नहीं है बल्कि मनोवैज्ञानिक रोगयुक्त गिरावट है। ऐसी दशा में चेतन कार्यवाही मुअत्तल हो जाती है और शारीरिक कार्यवाही असामान्य (डिसबैलेंस) हो जाती है। यह सभी असामान्यताएँ मोहनिद्रा व मूर्च्छायुक्त हिस्टीरिया के मरीज में पैदा की जा सकती हैं। अगर उसे बता दिया जाये कि तुम शराब पिये हुए हो तो नशे में पूरक चिह्न उसमें दिखायी देने लगेंगे। वैज्ञानिक जाँच से स्पष्ट हो जाता है कि मिस्टिक और हिप्नोटिक मरीज की असामान्यताएँ एक से कारणों से पैदा होती हैं। वह एक मनोवैज्ञानिक रोग है जिसमें सुझावों का दबाव बहुत ज्यादा बढ़ जाता है और विवेक क्षीण और निष्क्रिय हो जाता है। यह दोनों बातें बीमारी से भी पैदा हो सकती हैं और प्रवृत्ति से भी। मनोवैज्ञानिक प्रैक्टिस से मरीजों में सुझावों का बोझ बहुत बढ़ जाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में कुछ भी इतना प्रभावी नहीं है जितना अन्ध अवस्था और पूर्वग्रही धारणाएँ। इसलिये धार्मिक लोग खास कर सुझावों के शिकार होते हैं। उनका मेन्टल मेकअप, उनका मानस इन सुझावों की खुराक का भूखा होता है। सुझाव हिप्नोटिक वृत्ति पैदा करने में बड़ा पार्ट अदा करते हैं। और इसे ही रहस्यपूर्ण अनुभव की स्थिति कहा जाता है। इस स्थिति को पैदा होने में

या तो उनकी अगाध आस्था होती है या उस ओर अवचेतन प्रवृत्ति। जब एक शख़्स यह विश्वास करता है कि उसके अन्दर कुछ रहस्यात्मक है और उसकी आस्था पर अज्ञानता की किलेबन्दी है तो वह रहस्यों को ज़रूर अनुभव करेगा। उसे बस इतना करना है कि उसे अपनी आस्था पर पूर्ण विश्वास करके उसी को जीवन का ध्येय स्थापित कर लेना है। मनोवैज्ञानिक कार्यकलाप बहुत कुछ अपने आप प्रभावित होने लगते हैं। मसलन शारीरिक व्याधियाँ अक्सर सुझावों के दबावों में आकर ठीक हो जाती हैं और पैदा भी हो जाती हैं। आधुनिक जीवविज्ञान की खोजों का निष्कर्ष है परम आवश्यक तत्त्व (वाइटल फैक्टर) नाम है विद्युत रासायनिक इलेक्ट्रोकेमिकल प्रक्रिया का—जो कि जीव संगठन का काम करती है। इसीलिए विज्ञान ने मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को, जिसे पहले मिस्टिक शक्ति के रूप में जाना जाता था, जिसकी प्रैक्टिस आज भी आध्यात्मिक गौरव माना जाता है, शारीरिक प्रक्रिया बताया है।

किसी एक लक्ष्य पर एकाग्र होने से अगर वह बौद्धिक क़िस्म का नहीं है तो माइंड (सेरिब्रल) की क्रिया (फंक्शनिंग) का बैलेंस खत्म हो जाता है और फलस्वरूप एक हिस्टीरिया अवस्था प्राप्त होती है और आदमी अपने विश्वासों और सुझावों की मनचाही आकृति ही नहीं देखता है बल्कि अवचेतन में व्याप्त विभिन्न भावनाओं द्वारा जनित उसे मतिभ्रम (हैल्यूसिनेशन) भी होने शुरू हो जाते हैं।

सन्देहशील व्यक्तियों के अवचेतन में एक प्रवृत्ति होती है। ज्यों ही विवेकी विचारधारा का दबाव ढीला होता है आस्था की ओर जाने वाला मार्ग प्रशस्त हो जाता है। विवेकानन्द के साथ यही हुआ। अधिक दोष-दर्शी मनोवृत्ति मनोविज्ञान की प्रक्रिया है। वह दबी हुई इच्छाओं की अभिव्यक्ति है जिससे अपनी आस्था को मजबूत करने में मदद मिलती है। रामकृष्ण का बड़ा बोल कि उन्होंने ईश्वर को देखा है—यह कथन युवा विवेकानन्द को हंसी की बात न लगकर बड़ा तसल्लीबख़्स लगा। सन्देहशीलता मात्र

अविश्वास करना नहीं है। अगर सही प्रतीत होने लायक साक्ष्य मौजूद हैं तो एक सन्देहशील व्यक्ति उन्हें मानने को भी तैयार हो जायेगा। इसलिए रामकृष्ण परमहंस का कथन विवेकानन्द की प्रवृत्तियों को जगाने में सफल हुआ जिससे युवा ऋषि में मौजूद दोष-दर्शी स्वभाव क्षीण हुआ। दोष-दर्शी सामर्थ्यहीनता से सुझावों के शिकार होने की वृत्ति बढ़ना शुरू हुई। रामकृष्ण के शान्त सुझाव, कि वह अपने अन्तर में ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है, ने जगी प्रवृत्तियों को और मजबूत किया जिससे वह अवचेतन में पहुँचना चाहता था। उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ पर उसका विश्वास था कि उसे सब कुछ मिल गया। विश्वास पर्वतों को भी हिला देने की शक्ति रखता है।

वास्तव में धार्मिक अनुभवों में मनोविज्ञान की दास्तान बहुत पुरानी है। यह दास्तान तमाम पौराणिक साहित्य और मशहूर सन्त महात्माओं की जीवनियों से भरी पड़ी है। पुराने यूनानी हिस्टीरिया को इन्द्रिय वासना (सेक्स) से जोड़ते थे। आज का मनोवैज्ञानिक हिस्टीरिया की उत्पत्ति, ज़रूरी ऐंद्रिक सुख त्याग और उसके संघर्ष से बताते हैं। गूढ़ अनुभव अक्सर ऐंद्रिक सुख हतोत्साहन से पैदा होते हैं। इस संघर्षशील प्रवृत्ति (इम्पल्स) का जो भी प्रभाव हो सभी सन्त-महन्त इस काम भावना को दबाने के मनोवैज्ञानिक लक्षण से ग्रस्त रहे हैं। इन्द्र द्वारा भेजी गयी उर्वसी, रम्भा आदि अप्सराओं की उपस्थिति से उन सबकी तपस्या भंग हुई। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में वे अपनी दबी हुई इच्छाओं की आकृतियों से आच्छादित थे। वे हिस्टीरिया के मरीज थे। यही उनके गूढ़ अनुभवों का मनोवैज्ञानिक आधार था। काम भावना का हनन ही गूढ़ अनुभवों की राह खोलता है और यह हनन उन्हें कहाँ ले जाता है यह जानने के बाद एक शख्स सिर्फ़ यही कहेगा कि गूढ़ अनुभव मात्र मतिभ्रम और हिस्टीरिया की बीमारी है।

यह केवल तर्क का विषय नहीं है, वास्तविक और निर्विवाद सत्य है। काम भावना का हनन हिस्टीरिया का मुख्य लक्षण है। जो स्त्रियाँ प्रेम

वासना से क्षुब्ध हो जाती हैं, वे या तो समाज सेवा में लग जाती हैं या नन बन जाती हैं। इसी अवस्था को प्राप्त पुरुष प्रेम आदर्शों पर कल्पित गीत और उपन्यास आदि लिखने लगते हैं। यह सब आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा सिद्ध सत्य है। भारतीय जीवन इस दिशा में यानी काम वासना दबाने और तदनुरूप पवित्र जीवन जीने में बहुत आगे है। यहाँ काम वासना का हनन ही सच्चरित्रता की परख है। कुछ धार्मिक सम्प्रदाय जैसे वैष्णव आदि में, काम वासना को दबाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। लेकिन तांत्रिक सम्प्रदाय में ऐंद्रिक भोग की इजाजत है। मगर धार्मिक कर्मकाण्ड के तौर पर शारीरिक ज़रूरत के लिए नहीं। लिंग को ईश्वर का रूप देकर वासना को मूर्त रूप में स्थापित करते हैं। वासना को दबाने का इससे भी कोई अच्छा तरीक़ा हो सकता है। हर स्त्री को अपनी मां समझना काम वासना को दबाने का एक और तरीक़ा है जो कि भारत में बहुत ही मकबूल है। इस प्रकार की पवित्रता उस सम्प्रदाय में प्रचलित है जो ईश्वर को फीमेल फोर्स (प्रजनन शक्ति) के रूप में मानते हैं।

रामकृष्ण परमहंस पूरे तौर से सिद्धान्त मात्र की पवित्रता से सने हुए थे। इसलिये स्त्री के सामीप्य से उनमें अभूतपूर्व व्यवहार होता था। यह चरित्र उनकी प्रवृत्तियों को प्रभावित करने में उनकी मदद करता था जिससे वे अपनी हिस्टीरिया की हालत को बरकरार रख सकते थे। यह अद्‌भुत व्यवहार काम भावना को अनचाहे दबाने से स्थिर हुआ था। स्त्री को मात्र देखने से या मात्र छू लेने से आदमी में काम भावना जाग्रत नहीं हो जाती। तो जिससे एक सामान्य व्यक्ति भी उत्तेजित नहीं हो सकता, वह सन्त में विलक्षण और रहस्यात्मक व्यवहार पैदा करता था। वास्तव में वह खराब हिस्टीरिया का लक्षण था। उनके भावनात्मक जीवन में काम भावनाओं का बहुत भीषण गृहयुद्ध चल रहा होगा। जितना ज्यादा यह संघर्ष तीव्रतर होगा उतना ही ज्यादा काम वासना का हनन उजागर

होगा जिसे पवित्रता कहते हैं लेकिन वह पूरा पागलपन है। यह मतलब नहीं कि वासना को जानबूझ कर दबाया गया था। वास्तव में पवित्र आदमी में काम वासना अवचेतन में स्थापित हो जाती है लेकिन रहती बराबर है और असामान्य भावनात्मक और शारीरिक कारण बनती है। सिद्धान्त मात्र के अधीन एक स्त्री-आकृति पर श्रद्धा और विश्वास उँडेलना कामवासना को दबाने का अन्तरंग उदाहरण है।

शाक्तों द्वारा स्त्री-आकृति में ईश्वर की पूजा में ऐन्द्रिक कर्म-काण्ड शामिल होते हैं। मात्र सिद्धान्त की पूजा और कामवासना का त्याग दोनों एक साथ मिलकर बहुत ही भीषण भावनात्मक संघर्ष पैदा करते हैं। दिमाग़ी बैलेन्स खो बैठते हैं और हिस्टीरिया की बीमारी पैदा करते हैं। इसीलिये जितने भी सन्त-महात्मा हुए हैं, चाहे पुराने जमाने में या आधुनिक काल में, वे सब इसी प्रकार कमोबेश हिस्टीरिया के रोगी थे। वे एक दोहरे व्यक्तित्व का विकास कर लेते हैं। जीवन के ख़ास हिस्से की सभी याददाश्त गायब हो जाती है और रोगी अपने को एकदम भिन्न स्थितियों में पाता है। इस अद्भुत प्रक्रिया के बहुत विशेष मामलों को अलौकिक (आकल्ड) नाम से पुकारा जाता है, जहाँ कि मनुष्य में भावनाओं के रूपान्तरण से अति विकृत लक्षण दीखने लगते हैं।

वैष्णव सन्त महाप्रभु चैतन्य का आदर्श अद्भुत (टिपिकल) केस है। कहा जाता है कि वे अपने को राधा का अवतार मानते थे। समाधि अवस्था में कृष्ण की वे पौराणिक प्रेमिका का पार्ट अदा करते थे। बेशक उन्होंने अपने को ईश्वर की प्रेमिका के रूप में स्थापित कर लिया था और वो तवैयुल (इमेजिनेशन) ही उनके गूढ़ (मिस्टिक) अनुभवों का मूल तत्त्व था। यह हर हालत में हिस्टीरिया का लक्षण था जिसकी उत्पत्ति काम वासना के हनन से हुई थी और जिसका समापन विकृत भावनात्मक अभिव्यक्ति में हुआ।

कुदरत को इतनी आसानी से दुत्कारा नहीं जा सकता। वह बदला ले लेती है जो अक्सर आध्यात्मिक तौर पर दुर्गति की द्योतक बनती है। गो कि अन्धविश्वासी जन तथा उनके अनुयायी उसे आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचना बतायेंगे। मनोवैज्ञानिक तौर पर चैतन्य के अनुयायियों द्वारा प्रचारित स्त्री भाव कामवासना की विकृति की अभिव्यक्ति है—ठीक उसी तरह जैसे समलैंगिक क्रिया-कलाप। ऐसे असामान्य भावनात्मक सम्बन्ध, जिन्हें अब रोग कहा जाता है, और उसका तदनुरूप निदान भी किया जाता है, में एक पार्टनर अपना लिंगभेद रूपान्तरित समझने लगता है। भावनात्मक असामान्यता कठिनाइयों में या उपयुक्त प्रेम पात्र के अभाव में खिन्न होने से पैदा होती है। यह मनोदशा बढ़ती जवानी में अनुभव होती है और हिस्टीरिक व्यसन बन जाता है जिसका कोई मनोवैज्ञानिक आधार नहीं, और इसीलिये व्यसनी कोई अव्यवस्था नहीं महसूस करता है।

लेकिन कामवासना का त्याग जब धार्मिक भक्ति के लिये होता है तो बुद्धि के बीच का तालमेल भी उलट जाता है। पूर्ण दिमाग़ी प्रक्रिया अव्यवस्थित हो जाती है। भक्त दीर्घकालीन हिस्टीरिया का शिकार बन जाता है। जबरन अभ्यास करने पर उसके आध्यात्मिक जीवन का एक विशिष्ट लक्षण बन जाता है। चैतन्य, मिसाल के तौर पर, स्वप्न में देखते होंगे कि वे कृष्ण की बाहों में समाये हुए हैं, या वे कृष्ण के पैर दबा रहे हैं। जैसे भारतीय स्त्रियाँ अपने पति के पैर दबाती हैं और वह अवचेतन में बनी कामुक इच्छा को ईश्वर से रहस्यात्मक साक्षात्कार मानते होंगे। इन अनुभवों में कुछ भी आध्यात्मिक नहीं है। यह असामान्य इच्छाओं का अप्राकृतिक रूप से पूर्ति किया जाना है। जिसे पाप समझकर अन्तर्मुखी कर दिया जाता है।

हिन्दू लाक्षणिक चिह्नों में वासना (सेक्स) का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह बहुत कुछ भक्तिपरक रीतियाँ तय करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण

तो यह है कि हिन्दू तत्त्वज्ञान, कामवासना से सम्बन्ध निर्धारित मनोदशा से सीधे जुड़ा हुआ है। मिस्टिक अनुभव ब्रह्मचर्य पालन किये बिना सम्भव नहीं है। ब्रह्मचर्य के माने हैं, कामवासना का त्याग। लेकिन एक कुदरती प्रवृत्ति खत्म नहीं की जा सकती। इसे ढकेल कर अवचेतन में डाला जा सकता है। वहाँ जाकर वह हानिकारक हो सकती है। वहाँ से वह बाहर निकलने की कोशिश करती है और हमारे दिमाग़ (माइंड) पर तरह-तरह से प्रभाव डालती है। अन्तरजात प्रवृत्तियों पर रोक लगाना स्वयं में हानिप्रद नहीं है। वास्तव् में उन पर विवेकपूर्ण कन्ट्रोल ही आदमी को पशु जगत् से भिन्न करता है। कुदरती प्रवृत्ति का संगठन और बैलेन्स्ड जीवन आध्यात्मिक जीवन का निचोड़ है। यह काम बुद्धि और विवेक से होता है। जिन प्रवृत्तियों की आध्यात्मिक विकास में आवश्यकता नहीं उन्हें दबाया भी जा सकता है। उसमें कोई नुकसान नहीं होता।

अगर विवेकपूर्ण जीवन में उनका महत्त्वहीन पार्ट है तो वे दबी पड़ी रह सकती हैं। वे अवचेतन में खामोश पड़ी रहेंगी। बुद्धिजीवी अपने में हल्का भोजन करने की आदत डाल देता है जिससे कि हाजमे में खर्च होने वाली ऊर्जा का रुख मोड़ कर दिमाग़ी कार्यों में लगाया जा सके। प्राकृतिक प्रवृत्ति को रोकने का यह स्वाभाविक तरीक़ा है। इस प्रकार के कन्ट्रोल कामवासना के सिलसिले में भी लागू किये जाने चाहिये। किसी को मनोवैज्ञानिक और शारीरिक तौर पर अपनी प्रेमवासना सम्बन्धी ऊर्जा खत्म कर बरबाद नहीं कर देनी चाहिये। हालांकि कामवासना इतनी शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है फिर भी वह भावनाओं और बौद्धिक व्यस्तता के कारण कमोबेश दबी रहती है। जो लोग अधिक बुद्धिजीवी हैं इस प्रवृत्ति के बारे में बनिस्बत एक ब्रह्मचारी से अधिक बेखबर रहते हैं। ब्रह्मचारी एक धार्मिक लोफर के सिवा और कुछ नहीं होता। आप उस प्रवृत्ति से कतई बेखबर नहीं रह सकते। उसे दबाने के लिए आप हर समय संघर्षरत रहते हैं। केवल अकर्मण्य लोग ही कामवासना से अधिक

प्रेरित और पीड़ित रहते हैं, और जो लोग अपने अहम् (इगो) से सम्बद्ध चीज़ों में ज्यादा व्यस्त रहते हैं उनका मन वासनाओं की तरफ़ से हटा रहता है।

ख़ैर, मूल प्रवृत्तियों की विवेकपूर्ण तुष्टि एक अच्छे-ख़ासे स्वस्थ व्यक्ति की निशानी है। उन्हें दबाना ख़तरे से ख़ाली नहीं है और मामूली प्रवृत्तियों जैसे सिनेमा जाना, रेस्ट्रां में खाना खाना आदि को दबाया जा सकता है। उनसे कोई खास नुकसान नहीं होता।

वासना एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। वास्तव में मूल प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक विकास की पहली शर्त है जीवन और जीवन का वजूद वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने में है। अगर कोई सृजनकारी सिद्धान्त है तो वह कामवासना में पाया जाता है। इसीलिये यह विचारधारा कि आध्यात्मिक विकास के लिये कामवासना का त्याग पहली शर्त है—एकदम वाहियात बात है। इस कथन में कोई दम दिखायी नहीं देता कि किसी पेड़ से फूल और फल लेने के लिये उसकी जड़ काट डालो। कुदरती इच्छाओं की तुष्टि आध्यात्मिक विकास में आड़े नहीं आती। कामवासना एक मूल प्रवृत्ति है। उसकी तुष्टि शारीरिक, बौद्धिक और भावनात्मक बहबूदी के लिये ज़रूरी है। इसका हनन हमारे मनोविज्ञान और हमारे शरीर के लिए लाजिमी तौर पर घातक होगा। वास्तव में इसे दबाया ही नहीं जा सकता। यह विभिन्न विकृत लक्षणों के रूप में उभर कर सामने आती है—उन लक्षणों में, जो हमारी अवचेतन प्रवृत्तियों में मौजूद रहते हैं और उनसे एक असामान्य मनोवैज्ञानिक स्थिति पैदा होती है। गूढ़ मिस्टिक अनुभव उस स्थिति के लक्षण हैं और वे ब्रह्मचर्य के अभ्यास से पैदा होते हैं। इस तरह जानबूझ कर मनोवैज्ञानिक रोगग्रस्तता पैदा की जाती है ताकि वास्तविकता से पूरी सफलता के साथ संघर्ष किया जा सके। यह अनुभव अवचेतन के अन्धेरे में, जहाँ हमारी छिपी हुई मनोवृत्तियाँ, जन्मजात स्वभाव, जो जीवन के प्रत्येक व्यवहार को प्रभावित करते हैं, झाँकते हैं।

एक बार मनोवैज्ञानिक दशा सामान्य प्रवृत्तियों को दबाने से पैदा हो जाये तो संघर्ष अवचेतन में खिसक जाता है और दिमाग़ी क्रिया भावनात्मक संवेगों से आच्छादित हो जाती है। आच्छादित भावनाएँ विकृत क़िस्म की होती हैं क्योंकि वे सामान्य अभिव्यक्ति न होकर प्रवृत्तियों के दबाने से पैदा होती हैं—हिप्नोसिस, मतिभ्रम (हैल्युसिनेशन), हवाई किले और दिवा-स्वप्न इत्यादि भावनात्मक अवस्था की मिसालें हैं। बुद्धि और विवेक को त्याग कर सत्य नहीं पाया जा सकता। ज्ञात वास्तविकताओं के प्रकाश पुंज से ही गर्त में छिपे सत्य ढूंढ़े जा सकते हैं।

धर्म, अलौकिकता में विश्वास का नाम है और अज्ञान उसका आधार है। प्राकृतिक प्रक्रिया को सही ढंग से समझ न पाने के कारण तत्त्वज्ञानियों ने नाना सिद्धान्त गढ़े। मनुष्य जाति के लिये अज्ञानता पाप की जड़ है। इसलिये कोई आदमी कम धार्मिक है और न दूसरा ज्यादा। धन्य है पाप की जड़ अज्ञान। धार्मिक प्रवृत्ति हर आदमी में बहुत ही भीतर तक जड़ें जमाये रहती है। जब तक वह ज्ञान के सागर में गोते नहीं लगा लेता, ज्ञानी के ज्ञान पर उसके पुरखों का ज्ञान हावी रहता है।

ज्ञानार्जन से हमारे दिमाग़ की उच्चतर विचार शक्ति और बुद्धिमत्ता मजबूत होती है। इस प्रकार ज्ञान धार्मिक पूर्वग्रहों को हिला देने का सामर्थ्य रखता है।

धार्मिकता पिछड़ेपन का ठप्पा है। इसलिये जितना ज्यादा दिमाग़ी पिछड़ापन होगा उतनी ही मजबूत धार्मिक प्रवृत्तियाँ होंगी। बौद्धिक रूप से व्यक्ति का मनोविज्ञान सदा भावनाओं से संचालित होगा। यह बहुत ही आदिम क्रिया है। यह शारीरिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है जो बुद्धि और विचार शक्ति द्वारा समतल नहीं होती। इसलिये यह आपस में टकराया करती है और नतीजा होता है मनोवैज्ञानिक रोग, यानी हिस्टीरिया। इसलिये धार्मिक लोग बहुत जल्द मोहनिन्द्रा से ग्रस्त हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उनमें हिस्टीरिया की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती

है। उनमें मिस्टिक अनुभव बहुत जल्दी होता है। भारतीय समाज के धार्मिक स्वभाव का यही मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण है। यहाँ तक कि धार्मिक प्रवृत्ति मॉडर्न शिक्षा की महीन पर्त से छुपी रहती है। मगर उपयुक्त सुझाव पाते ही वह फिर ऊपर उभर आती है। वास्तव में आधुनिक शिक्षा धार्मिक प्रवृत्ति वाले आदमी में एक भावनात्मक टकराव पैदा करती है और वे प्रवृत्तियाँ बुद्धि और विवेक से कुछ दब जाती हैं। ऐसी अवस्था में भावनात्मक टकराव इतना मजबूत बन जाता है कि हिस्टीरिया का दौर शुरू हो जाता है। इसी कारण से स्वामियों के झुण्ड प्रवचन देते घूमते हैं कि गूढ़ ज्ञान मात्र अनुभव की वस्तु है।

ब्रह्मचर्य पालन और गूढ़ अनुभवों के बीच एक अन्दरूनी सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध आध्यात्मिक नहीं बल्कि रोगयुक्त है। यह सम्बन्ध स्वस्थ शरीर में स्वस्थ दिमाग़ की कहावत से उलटा है। तुष्टि के अभाव में इच्छाएँ बड़ा टेंशन पैदा करती हैं और शारीरिक ऊर्जा में दबाव डालती हैं। वे भावनात्मक अभिव्यक्ति ढूँढ़ती हैं। जैसे किसी नदी का पानी किसी डैम में जमा करके उसे अन्य धाराओं में खोल दिया जाता है, उसी तरह भावनात्मक टेंशन भी अपना रास्ता ढूँढ़ने की कोशिश करती है। पुरानी आदतें, काल्पनिक घटनाएँ जो कि पहले से भावनात्मक स्तर पर जुड़े चले आ रहे हैं वे फिर एक बार ज़ोर मारते हैं और दबी हुई इच्छाओं की अभिव्यक्ति का द्वार बनते हैं। वातावरण से प्रभावित होना जीवन की मूल प्रवृत्ति है।

दैवी पागलपन का लक्ष्य कुछ ही लोगों द्वारा प्राप्त किया जाता है क्योंकि कुदरत समाज को पागल करने के खिलाफ है। शक्तिशाली लोगों में कुदरत के साथ चलने का भाव होता है। वह वासना त्याग की बातें ज्यादा नहीं करते। जो लोग वासना त्याग की प्रेक्टिस करते हैं वे लोग फेल हो जाते हैं। इसलिये धार्मिकता की आदत डाली जाती है और इस आदत में तमाम मनोवैज्ञानिक और शारीरिक क्रियाओं में संघर्ष मचता

है। और पूरे तौर से हिस्टीरिया की स्थिति आ जाती है। बेशक हमारी प्रवृत्तियों को गढ़ने में आध्यात्मिक स्वभाव का हाथ नहीं होता क्योंकि वह तो सब में पाया जाता है। फिर भी गूढ़ अनुभव एक दुर्लभ प्रक्रिया है। यह या तो एक क़िस्म की विकृत स्नायु प्रणाली है, जो कि एक शारीरिक रोग है, या अनजानी भावनात्मक तालमेलहीनता। हर हालत में द्रष्टा या ऋषि हिस्टीरिया का रोगी होता है। दबी प्रवृत्तियों के उभार से तमाम विकृत लक्षणों का विकास होता है। जैसे अपने आप में बातें करना, मति-भ्रम, समाधि, दोहरा व्यक्तित्व वगैरह वगैरह।

कट्टर राष्ट्रवाद की विचारधारा

भारतीय देश-भक्ति की विशेषताएँ, बेशक स्तरभेद के साथ, पश्चिमी सभ्यता के प्रति घृणा करता रहा है। भारतीय राष्ट्रवाद की यह धारणा विभिन्न राजनैतिक दलों की सामाजिक पृष्ठभूमि के लिहाज से बनी है। मिसाल के तौर पर पाखण्डी पवित्रता से ओतप्रोत हिन्दू महासभा, आर्य समाज और कट्टर सनातनी सम्प्रदाय उसके प्रति नाराजगी दिखाते हैं। और दूसरी तरफ़ उदारपंथी सुधारवादी सामाजिक विकास के मार्ग को अस्वीकार कर राजनैतिक और वैचारिक स्तर पर अपने को मूर्ख बनाते हैं।

भारतीय राष्ट्रवाद के राजनैतिक आदर्शों की प्राप्ति से देश के पूँजीवादी विकास में मौजूद रोड़े या अड़चनें ही दूर होंगी। भारत पश्चिम के मॉडल पर अपने को विशिष्ट और सभ्य तभी बना सकेगा जब पूँजीवादी हितों को खत्म करने के लिये भारतीय राजनैतिक चाह को संकुचित राष्ट्रवाद की सीमाओं से ऊपर उठना होगा। हमारे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के आदर्श से सर्वसाधारण को सामाजिक बन्धनों से छुटकारा दिलाने का उद्देश्य प्रभाषित होना चाहिये। तभी भारत पश्चिमी सभ्यता की महान् उपलब्धियों को ग्रहण करने में समर्थ होगा। तभी पश्चिमी सभ्यता के लिये एक दोष-दर्शी भाव पैदा होगा और भारतीय सुधार की विचारधारा पुष्ट होगी, जैसा कि मौजूदा हालात दीखते हैं उससे पश्चिमी सभ्यता के खिलाफ इतना सारा शोरगुल और लफ्फाजी अर्थहीन है। चन्द्रमा में कलंक के लिये उस पर कीचड़ उछालना हास्यास्पद है, जबकि हम उसी को पाने के लिये चीख रहे हैं।

प्रतिक्रियावादी और अन्तर्विरोधग्रस्त आधुनिक उदारवादियों के बीच कांग्रेस खड़ी है। गाँधीवाद के नाम पर लाखों भिन्न स्वभाव वाले अनुयायी और सहानुभूति दर्शाने वाले वैचारिक मंच के केन्द्र बिन्दु बने हुए हैं।

लेकिन बावजूद तमाम अन्तर्विरोधों, दिमाग़ी-नटलीलाओं, आकस्मिक कलाबाजियों, हिमालियन भूलों के गाँधीवाद राजनैतिक रूप से जागरूक, पर अदूरदर्शी भारतीय जनता पर हावी है। गाँधीवाद पश्चिमी सभ्यता का काट माना जाता है।

एक गाँधीवादी को रेलवे, मोटर कार, आधुनिक अस्पताल जैसे पैशाचिक आविष्कारों को नकारने की ज़रूरत नहीं, उसके गुरु ख़ुद शुरू की शुद्धता से बहुत दूर जा चुके हैं। गुजराती उद्योगपतियों और आधुनिक धन कुबेरों से गहरे सम्बन्ध होने तथा इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स की ऑनरेरी सदस्यता आधुनिक उद्योगों का जोश ठण्डा ही करेगी। कांग्रेस के महत्त्वपूर्ण संरक्षक बिरला, बजाज और अन्य ऐसे लोग गाँधी टोपी पहन सकते हैं। पर पूँजीवाद के खिलाफ कोई गम्भीर आरोप सहन करने में वे पहले आदमी होंगे। फिर भी विशिष्ट भारतीय राष्ट्रवादी व्यर्थ के गाँधीवाद के मतवाले होकर ऐसे बोलते हैं जैसे नयी सभ्यता के पैगम्बर वे ही हों। सच समझिये वे यह भी नहीं जानते कि उनका इष्ट आदर्श क्या होगा, यदि वह कभी प्राप्त भी हो जाये। लेकिन वे पूरा ज़ोर देकर कहते हैं— भारत पश्चिम की नकल नहीं करना चाहता। कितना हास्यास्पद है कि वे यह भी नहीं जानते कि जिस लक्ष्य की ओर वे बढ़ रहे हैं वे उसी की शिकायत करते जाते हैं।

भारतीय राष्ट्रवाद पर आस्था कितनी अविवेकपूर्ण है कि तथाकथित प्रगतिशील विचारधारा के लोग भी, जब कभी वे सामाजिक संस्थाओं की आलोचना करने का साहस करते हैं, यहीं से शुरू करते हैं कि वे पश्चिमी सभ्यता के प्रशंसक नहीं हैं। यह बेमन और शर्मीले सुधारक तोते की तरह पश्चिमी सभ्यता से असहमति की बात दोहराते हैं—यहाँ तक कि जब वे उसी सभ्यता से सम्बन्धित सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के प्रचलन की बात करते हैं। मिसाल के तौर पर—स्त्रियों को वही आज़ादी दी जानी चाहिये जो यूरोप और अमेरिका की स्त्रियों

को प्राप्त है, लेकिन हमें भारतीय नारी के आदर्शों को नहीं त्यागना चाहिये। उन्हें पश्चिमी स्त्रियों की तरह उस आज़ादी की बुराई से भ्रष्ट नहीं होना चाहिये। जाति प्रथा को ख़त्म करें, लेकिन पश्चिम की संकीर्णता से रक्षा करें, पूँजीवाद को बढ़ावा दें मगर पश्चिमी भौतिकवाद के लालच से दूर रहें। धार्मिक अन्धविश्वासों से छुटकारा पायें और विवेकपूर्ण जीवन की दृष्टि अपनायें लेकिन अनुभवगम्य विज्ञान को मानव ज्ञान का स्रोत मंजूर न करें। इसलिए प्रगतिवाद की वकालत करने वाले ख़ुद मंजूर करते हैं कि भारतीय समाज में खामियाँ हैं और उसके निदान के लिये प्राचीन रीति-रिवाजों (ट्रेडीशन) में निदान न समझ कर दुखी होते हैं। वे पश्चिमी सभ्यता के रूप में मानव प्रगति को निरस्त करने में कठिनाई महसूस करते हैं। फिर भी उनमें साहस नहीं है कि प्राचीन से नाता तोड़ कर नवीन को अपना सकें।

उनका सिद्धान्त है—तथाकथित मिलावट (सिन्थेसिस), प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच समझौता और यह समझौता भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर चाहते हैं। यानी घिनौनी पश्चिमी सभ्यता का प्रायश्चित्त करने के बाद ही पवित्र भारत में दाखिला हो। इस तरह समझौते के तहत पश्चिमी सभ्यता मुकम्मल तौर पर नकारा नहीं है। बल्कि उससे अपेक्षा है कि वह निर्मल भारतीय प्रभाव के नीचे अपना स्थान ले।

आध्यात्मिक साम्राज्यवाद के प्रवक्ता यह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। वे संकलन और मिलावट के सिद्धान्त गढ़कर दार्शनिक बुद्धिवाद का दिखावा करते हैं। लेकिन वाकई चाहते हैं—एक असम्भावना—उन दो भिन्न संस्कृतियों की सुसंगत (हारमोनियस) बनावट, जो सदियों से आकार, प्रकार और विचारधारा में अलग चली आ रही है।

दार्शनिक आधार पर मिलावट (सिन्थेसिस) एक नई, स्पष्ट और निश्चित थ्योरी से सम्बन्धित प्रक्रिया है जो पहले से मौजूद स्पष्ट और निश्चित

थ्योरी को नकारने से पैदा होती है। रासायनिक तौर पर मिलावट (सिन्थेसिस) या कृत्रिम रचना एक मिश्रित घोल-सी होती है। और यह बिलकुल नवीन चीज़ होती है। और पुरानी चीज़ से सर्वथा भिन्न होती है। और उन तत्त्वों से भी भिन्न होती है जिनसे वह घोल बना होता था। संघर्षशील तत्त्वों की मिलावट जिसे पश्चिम सभ्यता कहते हैं, यानी पूँजीवादी समाज, मतलब होगा कि एक सर्वथा नई सभ्यता का विकास, जो ख़ुद पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित होगी। पूँजीवादी व्यवस्था के सुस्पष्ट (पॉजिटिव) तत्त्व एक उच्च श्रेणी की सभ्यता की नींव डालेंगे। भारतीय प्रवक्ता सिन्थिसिस की बात करके उसके ठीक उलटा चाहते हैं। उनका सुझाव है कि अपनी संस्कृति को सुसंस्कृत बनाने हेतु पश्चिमी सभ्यता में जो अच्छाई है बस उसे ही लेना चाहिये।

पूँजीवादी व्यवस्था में दो अच्छाइयाँ हैं—अगर अच्छाई शब्द से मानव समाज की बहबूदी समझी जाये तो पहली अच्छाई है—नष्ट करने की प्रवृत्ति— डिस्ट्रक्टिव। इस प्रक्रिया में पूँजीवाद मध्ययुगीन सामन्ती सामाजिक व्यवस्था मय उसके धार्मिक विचारधारा के मलवे को साफ़ करता है। दूसरी है रचनात्मक—(कन्सट्रक्टिव)। पूँजीवाद औद्योगिक विकास उस सीमा तक ले जाता है जहाँ से मानवता बड़ी आसानी से सामाजिक विकास के उच्चतम स्तरों पर पदार्पण कर सकती है। पूँजीवाद की (डिस्ट्रक्टिव) अच्छाई भारतीय पुरातन संस्कृति के साथ सुसंगत नहीं बैठ सकती। क्योंकि वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है जिसे यूरोप में 200 वर्ष पूर्व ही नष्ट किया जा चुका है। इसमें शक है कि भारतीय सामाजिक मिलावट करने वाले (सिन्थेसिस्ट) पश्चिमी सभ्यता की इस अच्छाई का स्वागत करेंगे। पूँजीवाद की यह अच्छाई कुबूल करने के माने हैं कि हम पश्चिमी व्यवस्था के प्रति लालची हैं। तो फिर सिन्थेसिस या मिलावट के सम्बन्ध में बकवासपूर्ण बातें नहीं की जानी चाहिये।

भारतीय राष्ट्रवादी पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना, उसकी बुराई यानी प्रतिक्रियावाद को लेकर नहीं करते, बल्कि जो अच्छाई है यानी चिन्तन और आचरण में वैज्ञानिक प्रसार और तरक्की, जिसने युगों पुराने आध्यात्मिक बन्धनों से छुटकारा दिलाने की भूमिका तैयार की है, उसे निरस्त करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था की आधारभूत बुराई है उसका सांस्कृतिक पक्ष—आदमी की आध्यात्मिक आज़ादी को अवरुद्ध करने की तरफ़ लगातार कोशिश। यह काम धर्म को संरक्षण देकर और उसका पोषण करके तथा हर प्रकार के सुधार विरोधी तत्त्व-ज्ञान को उड़ान मुहैय्या करके किया गया। और तब जब वैज्ञानिक ज्ञान का विजय रथ अन्धकार युग के सभी चिह्नों के आधार को ही डाँवाँडोल करके निकल गया है। फिर भी भारतीय राष्ट्रवादी भौतिकवाद को पश्चिमी सभ्यता का पाप बताते हैं।

वास्तविकता इससे उलटी है। भौतिकवादी दर्शन, बतौर दिमाग़ी फितूर के, पश्चिम के सत्ताधारी वर्ग द्वारा भी उतना ही घृणित माना जाता है और लड़ा जाता है जितना अपने देश के राष्ट्रवादियों या होने वाले सत्ताधारियों द्वारा। क्योंकि भौतिकवादी दर्शन आदमी की आध्यात्मिक आज़ादी को खत्म करने का एक तेज हथियार है। यह हथियार शुरू-शुरू में प्राचीन विद्वानों ने तैयार किया था, जिसमें भारत का भी हिस्सा था। समय के साथ साथ पूँजीवादी संस्कृति ने उसे खराद पर सँवारा। इसलिये सभी स्वतंत्रता सेनानियों और प्रगति के पवित्र प्रवक्ताओं को पश्चिमी सभ्यता की अभी तक के मानव इतिहास के प्रखर कालखण्ड की तारीफ़ करनी चाहिये। मानवता की इतनी बड़ी प्रगति की इतने पिछड़े सांस्कृतिक मंच से बुराई करना—भारतीय राष्ट्रवादी का कोरा प्रतिक्रियावाद है।

पश्चिमी सभ्यता भौतिकवादी है। और पूर्वी सभ्यता आध्यात्मिक है। भारतीय राष्ट्रवादियों के ये दो प्रिय मंत्र हैं। वे लोग इस मंत्र को उस सीमा तक अलापते हैं जब तक उससे घृणा न उत्पन्न हो जाये। मगर उनमें से कोई भी मंत्र के तथ्यों को साबित करने की कोशिश नहीं करता।

इसे स्वतः सिद्ध सत्य माना जाता है। जितना ही अंधविश्वास के साथ जोड़ दिया जाता है और हल्ला मचाया जाता है उतना ही ज्यादा वह श्रेणीबद्ध हो जाता है। इस पुस्तक का मतलब विवाद पैदा करना नहीं है। फिर भी दिखाया जायेगा कि जिसे भारतीय संस्कृति का विशेष गुण कहा जाता है वह कतई विशेष नहीं है। सामाजिक-विकास-प्रक्रिया में मनुष्य की विचारधारा को धार्मिक सोच हर जगह प्रभावित करता रहा है। यह भी देखा जायेगा कि सामाजिक वातावरण में उतार चढ़ाव के अनुसार सोचने के ढंग में परिवर्तन होता जाता है। इस प्रकार किसी जाति का कोई एक खास नजरिया और सोचने का ढंग सनातन सत्य नहीं हो सकता।

भारत एक खास विचारधारा से चिपका हुआ है जिसे पश्चिमी देश बहुत पहले निरस्त कर चुके हैं या उसमें सुधार कर चुके हैं। इसके माने यह नहीं कि पश्चिम स्वभाव से ही नैतिक स्तर पर बहुत दुराचारी और कलुषित हो चुका है और इसलिये वह धार्मिक विचारधारा के उच्चतम स्तर पर नहीं टिक सका है। इससे सिर्फ़ इतना साबित होता है कि सभ्यता के विकास में (आदमी द्वारा कुदरत पर विजय) इन राष्ट्रों को, बजाय आस्था और तत्त्व-ज्ञान की उड़ानों से चिपके रहने के, बुद्धि और विवेक से सोचने और समझने के योग्य बनाया है। यह सिर्फ़ इतना साबित करता है कि हालात में बदलाव आने के साथ-साथ आदमी की विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। इससे यह साबित होता है कि भारत एक प्राचीन विचारधारा से जुड़ा हुआ है। क्योंकि उसने ऐसे बदलावों का अनुभव नहीं किया है। वरना भारतीय लोग भी आज वैसा सोचना शुरू कर देते, जैसे पश्चिम के लोग। उन लोगों ने भी तो अभी 300 साल से ही ऐसे सोच की शुरूआत की है।

दो सौ सालों में पश्चिमी लोगों की ज़िन्दगी के हालात में अद्भुत महान् परिवर्तनों ने खाई बना दी, जो विचारधारा के धरातल पर भारतीय

लोगों से उन्हें अलग करती है। भारत को भी उसी परिवर्तन और बदलाव से गुज़रने दो, वह खाई अपने आप पट जायेगी।

भारतीय राष्ट्रवादियों की बहुत बड़ी तादाद यह कहती है कि पश्चिमी भौतिकवाद वह बला है जिसे हम अपने पास फटकने नहीं दे सकते। और लापरवाही में वे यह समझते हैं कि उन्होंने भारतीय संस्कृति की महानता सिद्ध कर दी है। क्या यह इच्छा ख़ुद जन्मजात आध्यात्मिक झुकाव से उत्पन्न नहीं होती? जब तक भारतीय लोग अपनी इच्छा से व स्वभाव से आध्यात्मिकता की ओर नहीं झुकते, पश्चिमवासियों की तरह वे सांसारिक सुख की राह पर चलने का मोह नहीं छोड़ सकते। सवाल पूछा जाता है—क्या भारत अपनी इच्छा से उस राह पर नहीं गया। क्या इस लालच को वह आज भी रोक पाया है? थोड़े से ऐतिहासिक ज्ञान से इसका नकारात्मक उत्तर ही आयेगा। सुधारवादी प्रक्रिया में एक महान् जाति की विचारधारा में ऐसे हानिप्रद आत्म मोह को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये।

भारत पश्चिमी राष्ट्रों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने का इच्छुक नहीं है। इस घोषणा में दो बहुत महत्त्वपूर्ण बातें छिपी हैं।

1. अगर उनके जीवन में उतना बदलाव आ जाये जो पश्चिमी देशों में हुए, तो भारतीय लोग भी उसी तरह सोचने लगेंगे जैसे पश्चिम के लोग सोचते हैं। यह स्वीकारोक्ति हमारी पैदाइशी आध्यात्मिकता का ढोंग उजागर करके रख देती है। यह सत्य है कि भारत हमेशा धार्मिक सोच में इसलिये जकड़ा रहा क्योंकि उसे दूर करने का मौका नहीं मिला।

2. भारतीय राष्ट्रवाद बहुत ही क्षणभंगुर है। अपनी योजनाओं तक में विश्वास नहीं करता—राष्ट्रवादी आन्दोलन, राजनैतिक जद्दोजहद ख़ुद इसका अकाट्य प्रमाण है कि भारतीय लोग भी वैसे ही जीवन स्तर और व्यवस्थित जीवन के इच्छुक हैं जितने कि अन्य लोग।

राजनैतिक आज़ादी से ही भारतीय जन पश्चिमी राष्ट्रों से अलग करने वाली दो सौ वर्षों की प्रगति को पकड़ने में समर्थ होंगे। भारतीय राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक अर्थवत्ता उसी में है जिसका प्रचलित विचारधारा दावा नहीं करती। क्या यह दयनीय स्थिति नहीं है? अगर आप वाकई समझते हैं कि आपकी आध्यात्मिकता दूसरों से श्रेष्ठ है, आपकी श्रेष्ठता पैदाइशी है, तो फिर आप ज़िन्दगी की दूसरी चीज़ों के लिये क्यों परेशान होते हैं? जन्मजात होने के कारण आपका आध्यात्मिक ज्ञान सांसारिक परिवर्तन से न भ्रष्ट होना चाहिये और न बर्बाद। इस प्रकार आपका राष्ट्रवाद एक 'भूल' है। राजनैतिक आज़ादी की इच्छा आपके आध्यात्मिक स्वभाव से दूर हट जाती है। अपनी आध्यात्मिक राजनैतिक दासता का क्रॉस पहन कर और आर्थिक विपन्नता ओढ़ कर दिखाओ कि अध्यात्मवाद एक झूठा बहाना है या आपका राष्ट्रवाद एक खासा मजाक है।

इतिहास और गल्प को सुनना दुधारी तलवार है। वह दोनों तरफ़ से काटती है। पश्चिम भी अपनी भौतिकवादी सभ्यता को आध्यात्मिक रंग देकर अपने जनकों की डींग मार सकता है। अगर धन अर्जन सही है, बशर्ते वह अच्छे कामों में लगाया जाये, तो क्या आप अमेरिकन धन कुबेर राकफेलर को भौतिकवादी होने के लिये बुरा कहोगे? क्या वह बहुत बड़ी धनराशि ईसाईयत को बढ़ाने और लाखों गैर ईसाई मूर्ति पूजकों की सहायता में नहीं खर्च करता? क्या कारनेगी ने शान्ति प्रयासों को बढ़ावा देने के लिये भारी चन्दे नहीं दिये? लिस्ट जितनी लम्बी चाहो बढ़ाई जा सकती है जिसमें यूरोप और अमेरिका के धनवान लोगों को शामिल किया जा सकता है। फिर भी वे वही लोग हैं जो बुरे कहे जाने वाले पश्चिमी भौतिकवाद के पर्याप्य हैं।

शान्त भाव से देखें तो पता चलेगा मनुष्य जाति में, चाहे वह विश्व के किसी हिस्से में रहती हो, रोज़मर्रा के कार्यकलाप और आदर्शों से मुकम्मल एक-सी नियत पायी जाती है। दृश्यगत विभिन्नताएँ मात्र एक रूप हैं।

भारत की अधिकांश आबादी मौज के लिये नहीं बल्कि ज़रूरतों के बोझ से दबकर ज़रूरी भौतिक पदार्थों पर निर्भर है। और आज ही ऐसा नहीं हो रहा है, यह युगों से होता आया है। और किसी जाति की संस्कृति अन्त में उस जाति के अधिकांश लोगों के आचरण से आँकी जायेगी। बुद्धिवादी वर्ग द्वारा ईजाद किये गये ऊँचे नारे और सिद्धान्त उस जाति की असली विचारधारा को प्रभावित नहीं करते हैं। यहाँ तक कि बुद्धिवादी को ख़ुद व्यावहारिक जीवन में अपने जिद्दी आदर्शों से उतर कर वहीं आना पड़ता है।

भारतीय बुद्धिजीवियों की अक्सरियत अपनी जाति की आध्यात्मिक श्रेष्ठता में विश्वास करती है। आर्यन आदर्शों के मुखर प्रवक्ता अपने मस्कूक तर्क पर दृढ़ हैं कि सेवा, त्याग, निष्ठा, पवित्रता इत्यादि भारत की ही बपौती है। वे उस अभियान में शामिल होने के दिवास्वप्न देखते हैं जिससे परेशान जनता को भौतिकवाद के पाप से बचाया जा सके। यह सब कितना अच्छा लगता है। दृढ़ विश्वास के साथ दोहराये जाने पर यह कितना आह्लादपूर्ण लगता है। मगर इस चांदनी के पार देखें आखिर भारतीय आदर्श है क्या, जिसके पीछे भारतीय बुद्धिजीवी भी पड़े हुए हैं—शिक्षा लेना शिक्षा के लिये नहीं बल्कि बाजारू कीमत बढ़ाने के लिये है। दुनियावी साज-सज्जा सँवारने के लिये अपने को तैयार करना है। क्या भौतिकवादी पश्चिम इसके अलावा किसी अन्य आदर्श का पीछा कर रहे हैं?

अगर जीवन की भौतिक ज़रूरतों को जुटाना ही भौतिकवाद है तो फिर पश्चिम के लोगों को भारतीय लोगों की अपेक्षा कम ही बुरा कहा जायेगा। क्योंकि वे वही कर रहे हैं जो शारीरिक क्रिया (बायोलोजिकल फंक्शन) है। ज़िन्दा रहने की तमन्ना और बच्चे पैदा करना हर शरीर (आर्गनिज्म) के दो मुख्य कार्य हैं। मनुष्य जाति यही अंगीभूत शारीरिक क्रिया अपने प्रिय वातावरण में करने की कोशिश करती है। ऐसा वातावरण बनाने

की योग्यता और उसे धीरे-धीरे विकसित करना ही आदमी को निम्न श्रेणी के जानवरों से अलग करती है। मतलब यह कि आनन्द की निरन्तर चाह शारीरिक प्रेरणा है—बायोलोजिकल अर्ज़ है। अगर कोई इस सत्य को भी मानने से इन्कार करता है तो उसे ज़रूर कहना चाहिये कि आदि गुफावासियों का जीवन आदर्श जीवन था।

लेकिन भौतिकवाद के विपक्षी अपना अध्यात्मवाद इतनी दूर तक नहीं फैलाते, गो कि तार्किक तौर पर उन्हें ऐसा करना चाहिये। कौन यह तय करेगा कि रेखा वहाँ से खींचनी है। एक बार शारीरिक ज़रूरत को मान लिया गया फिर तो उसकी जो भी सीमा रेखा होगी वह आर्बीट्रेरी होगी। इस तमाम बकवास के बावजूद धर्मग्रन्थों में साक्ष्य मौजूद हैं कि ज़िन्दा रहने की तमन्ना, बच्चे पैदा करने की तमन्ना और तमाम सांसारिक सामग्री जुटाने की लालसा भारतीय संस्कृति के विरुद्ध नहीं पड़ती है। धर्मग्रन्थों के मुताबिक मानव जीवन का लक्ष्य चार प्रकार का है—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के बीच में चस्पां कर दिया गया है। पर उसके माने छुपे नहीं रह जाते। वास्तविकता यह है कि सांसारिक सुख-साधन जुटाना और इन्द्रिय सुख भोगना केवल धर्मग्रन्थों द्वारा प्रमाणित नहीं था, बल्कि उन्हें मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में मान्यता दी गयी थी। उसी स्तर की मान्यता जो धर्म और मोक्ष को मिली थी। आम तौर पर ऐन्द्रिक सुख को सभी टिप्पणीकारों ने काम का नाम दिया है।

महाभारत में धर्म की बहुत ही विशाल और विस्तृत परिभाषा दी गयी है। इस महाकाव्य का अन्तिम श्लोक कहता है—अर्थ और काम धर्म से ही निकले हुए हैं। इतनी महत्त्वपूर्ण घोषणा ख़ुद व्यासजी के मुख से करायी गयी है। प्राचीन भारत के उस दैवी शक्ति सम्पन्न सन्त क़ानूनदां (विधिवेत्ता) ने कहा था 'धर्मप्रिय बनो और तुम्हें दुनिया की सभी नियामतें मुहैया होंगी।' भारतीय अध्यात्मवाद में भौतिकवादी गंध

खुलासा तौर पर महसूस होती है। लेकिन सन्त का क्रोध से परिपूर्ण वचन, 'मुझे कोई सुनता क्यों नहीं है' महत्त्व का विषय है। भारतीय इतिहास के सुनहरे युग में अर्थ व काम में धर्म ने कोई रुकावट नहीं डाली। ज़ाहिर है तत्कालीन भौतिकवाद ने सन्त को क्रोधित किया होगा।

आम तौर पर पश्चिमी सभ्यता के ख़िलाफ़ जो आरोप लगाये जाते हैं, उनमें एक है लिंग भेद। वास्तव में किसी भी देश का प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य इतना वासनामय नहीं है जितना भारत का। वैष्णव और भागवत सम्प्रदाय की क्लासिकल मिसालें छोड़ भी दें तो ब्रह्मसूत्र ख़ुद कहते हैं, 'वासना का भाव बच्चों में मौजूद रहता है और उचित अवस्था आने पर उसकी अभिव्यक्ति होती है।' इन्द्रिय सुख का भाव अन्तरजात है। उसका आनन्द लेना चाहिये। धर्म उसको मान्यता देता है। गीता के अनुसार भी ईश्वर सभी प्राणियों में कामवासना संचालित करता है, लेकिन काम को धर्मानुसार आचरण में लाना चाहिये। इतनी ज्यादा छूट के बावजूद धर्म को मानव जीवन के दूसरे आदर्शों से अलग कर दिया गया। महाभारत के अन्त में व्यास जी कहते हैं कि धर्म को आम तौर पर नकार दिया गया है। जो खुलासा तौर पर परिभाषित किया गया है और किसी न किसी दैवी मान्यता पर आधारित है। मनुष्य को सांसारिक सुख का उपभोग करना चाहिये और वासना की तुष्टि करनी चाहिये। और शारीरिक आनन्दों का उपयोग करना चाहिये— बेशक समाज के मान्य नियमों के अनुसार।

क्या भौतिकवादी पश्चिम में दिन प्रतिदिन का जीवन इससे पृथक् है? पागलों को छोड़ कर जो कि विषय वार्ता से बिलकुल अनभिज्ञ हैं, और कोई भी इसका जवाब हाँ में नहीं देगा। धन अर्जन करने के लिये राहजनी और गुफावासियों द्वारा स्त्री को जीतने के लिये जितने तरीक़े भारत में इस्तेमाल किये जाते हैं, उतने पश्चिमी देशों में नहीं। यूरोप और अमेरिका

के लोग अर्थ और काम का धर्मानुसार उसी प्रकार उपभोग करते हैं जैसे भारतीय और आवश्यक तौर पर इस उपभोग में जो बन्धन और सीमाएँ उन दोनों जगहों में मानी जाती हैं, उनमें मामूली सा ही फ़र्क़ है। अन्त में यह सीमाएँ चाहे हिन्दू संहिता में हो या आम तौर पर मान्य नैतिक ग्रन्थों में हों या अन्य सामाजिक नियम हों, उनका मुकाबला मूसा के दस उपदेशों से किया जा सकता है।

जहाँ तक चौथे पुरुषार्थ मोक्ष का सवाल है, औसत यूरोपियन और अमेरिकन ईसाई हैं। और अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रति उतना ही वफ़ादार है जितना एक औसत भारतीय अपनी धार्मिक मान्यताओं के लिये। यह कहना फिजूल की बात है कि एक औसत पश्चिमवादी अपने धार्मिक विश्वासों के प्रति दग़ाबाज़ है, जबकि औसत भारतीय वफ़ादार है। इतने आश्चर्यजनक कथन के पक्ष में कोई साक्ष्य नहीं है। आत्मा का मोक्ष ईसाई धर्म का भी मुख्य सिद्धान्त है और एक औसत ईसाई अपना धर्म अच्छी तरह से पालन कर सकता है, बनिस्बत एक औसत भारतीय के, जिसका कि धर्म अन्धविश्वास और पूजा-पाठ का एक पुलिंदा है। भारतीयों की धार्मिक नजर में मोक्ष धीरे धीरे गायब हो चुका है। दिन प्रतिदिन की शारीरिक ज़रूरतों की कशमकश ही उसका जीवन निर्धारित करती है और काम, अक्सर असन्तुष्ट उसके अधूरे कार्यों पर हावी रहता है। प्राचीन सामाजिक बन्धन, जैसे जाति व्यवस्था आदि ने धर्म का स्थान ले लिया है और मानव जीवन के दो आधारभूत लक्ष्यों को सीमित कर दिया है। यह कहना कि पश्चिमी भौतिकवाद से प्रभावित धार्मिक गिरावट से पहले मोक्ष मनुष्य जीवन में ध्रुव तारे की भाँति चमकता था, और हिन्दू जीवन में अर्थ और काम निम्न स्थान पर थे। ऐतिहासिक तौर पर यह कतई सही नहीं है। यहाँ तक कि महाकाव्यों की कहानियाँ जो अवैज्ञानिक तौर पर इतिहास के नाम से गौरवान्वित हैं, भी इस तथ्य को उजागर नहीं करतीं। भारतीय संस्कृति के स्वर्णयुग यानी वैदिक काल में

ब्राह्मण गोमांस खाते थे और सोमरस पीते थे। महाकाव्य ऐसे वर्णनों से भरे पड़े हैं। विभिन्न राजे-महाराजे झूठी शान-शौकत, सुख-सुविधा और रख-रखाव में स्पर्धा करते थे। यहाँ जब धर्म बिलकुल स्वच्छ और पवित्र था, मोक्ष आदमी की निगाह से ओझल नहीं हुआ था, अर्थ और काम से घृणा नहीं की जाती थी। अगर उनकी पूजा नहीं की जाती थी तो मौज ज़रूर ही ली जाती थी। भारतीय धर्म की धारणा महाभारत के शान्ति पर्व में दी हुई है। उसे पढ़ें और देखें कि ख़ुद ब्राह्मण दुनियावी धन-दौलत को इकट्ठा करने के लिये कितने उत्सुक थे।

अगर कुछ लोगों को पूरी कौम का प्रतिनिधि माना जाये तो यूरोप खास कर अमेरिका आध्यात्मिक महत्त्व के हकदार हैं। क्योंकि उनकी पुरोहितों की फौज जगह जगह पर हल्ला मचा कर ईसाईयत के गुण गान करती और ईसाई सदाचार को आर्यों के जीवन आदर्शों के समक्ष शर्म खाने की ज़रूरत नहीं। यह दावा करना बेवकूफी है कि एक-सा ईश्वर, आत्मा और दूसरी आध्यात्मिक श्रेणियों में सुधार की अधिक ताकत है, जब वे भारतीय धर्म-ग्रन्थों में बतायी जाती हैं। यह कहना भी पूर्ण रूप से असंगत और हानिप्रद है कि आध्यात्मिक तौर पर ईसाई धर्म भौतिकवाद से भ्रष्ट हुआ है और भारत के जीवन सम्बन्धी विचार इस गिरावट में बेअसर साबित हुए हैं। अगर आध्यात्मिक श्रेणियाँ वही हैं जिनका दावा किया जाता है तो वे किसी भी हालत में और कहीं भी भ्रष्ट नहीं हो सकतीं। लेकिन अगर वे एक जगह पर और एक-सी हालत में अपनी ताकत खो बैठती हैं तो यह कहना तर्कसंगत होगा कि उसी हालत में उनका कहीं भी वही हाल होना सम्भव है।

'उस आदमी को क्या मिला अगर उसने आत्मा खोकर सारी दुनिया हासिल कर ली।' वास्तव में क्रिश्चियनिटी में आस्था के सभी तत्त्व और तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी सभी सिद्धान्त और नैतिक विश्वास वही है जो भारतीय संस्कृति में उद्धृत किये जाते हैं। ईसा ने ख़ुद कहा है—ईश्वर की सत्ता

तुम्हारे अन्दर में है। जिसके माने हैं आत्मा के साक्षात्कार से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। एक आदर्श जो भारतीय आत्मदर्शन से एकदम मेल खाता है। सन्त पाल ने अपने अनुयायियों को समझाया था—क्या तुम इतने मूर्ख हो, आत्मा से उत्पन्न होकर मात्र मांस जुड़ जाने से क्या तुम परिपूर्ण हो गये? क्रिश्चियन चर्च के फादर ग्रिगोरी ने कहा था कि मनुष्य-आत्मा ईश्वर का रूप है। अन्त में सबसे बड़े धर्मजीवी थोमस अक्वायनस का कहना है, हमारे अन्दर जो बौद्धिक प्रकाश है वह कुछ और नहीं बल्कि वह अनुत्पन्न तेज है जिसमें शाश्वत बुद्धि निहित है। फिजूल की उलटी सीधी बातें करके क्रिश्चियन दैविकता और उनकी जमात में आस्था का अभाव बताकर शक पैदा करने में कोई फायदा नहीं। वही बातें भारतीय दैविकता के बारे में भी कही जा सकती हैं। ब्राह्मणों की दैविकता जो आर्य संस्कृति के पोषक कहलाते हैं, में ख़ुद शक पैदा किया जा सकता है। आधुनिक स्वामी, सन्त, महन्त 'नपुंसक' क्रिश्चियन धर्म धुरन्धरों के ऊपर मुश्किल से ही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। केवल अन्ध पूर्वग्रह और नपुंसक राष्ट्रभक्ति ही यूरोप और अमेरिका के क्रिश्चियन समाज को भारतीय सर्वहारा की निगाह से तुच्छ समझ सकते हैं। वे लोग कम से कम किसी आस्था में विश्वास तो रखते हैं, जब कि हम केवल अन्ध परम्पराओं में विश्वास रखते हैं। जब हम गीता या वेदान्त रटते हैं तब हमारी धार्मिकता सन्देह से परे हो जाए और जब क्रिश्चियन सन्त ईसा के उपदेशों को प्रचारित करें तो उसकी ईमानदारी में दुविधा मानी जाये—यह कोई सुसंगत बात नहीं। भौतिकवाद सबसे खराब अर्थों में आध्यात्मिकता के गैरिक चोगे में घनीभूत होता है। जो लोग आध्यात्मिक यानी धार्मिक तौर पर सोच को नकारते हैं, वे तथाकथित भौतिकवाद से भी नफरत करते हैं।

भौतिकवाद का नैतिक स्वतन्त्र स्वभाव इपीकुयरस (दार्शनिक भौतिकवाद का प्रसिद्ध व्याख्याता) के शब्दों में चरितार्थ होता है। उसने ईश्वर में विश्वास को तिलांजलि दे दी और धर्म के बन्धनों को तोड़ फेंका। केवल

खाने-पीने और मजा लूटने के लिये नहीं, बल्कि भले और सदाचारी मनुष्य बनने के लिये। क्योंकि भला मनुष्य बनना ही सुख है। खाना पीना और मौज उड़ाने के क्रूर सिद्धान्त जंगली क्रिश्चियन धर्माचार्यों ने ईर्ष्यावश प्राचीन ग्रीस के इस भौतिकवादी सन्त के साथ जोड़ दिया, जो कि कालान्तर में सत्ताधारियों ने, जो भक्तिपूर्वक क्रिश्चियन सदाचार को मानते हैं और उनके आदर्शों की बातें मानते हैं, अपना लिया। यह क्रूर भौतिकवाद केवल पश्चिम के सत्ताधारियों तक ही सीमित नहीं रहा, उसे भारतीय सत्ताधारियों ने भी आत्मसात किया है और आज भी कर रहे हैं। महाकाव्य और अन्य क्लासिकल साहित्य ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं। वर्तमान भारत में अहमदाबाद के कट्टरवादी कपड़ा उद्योगपति उदाहरण के लिये, बमुकाबिले एक पश्चिमवादी पारसी मिलमालिक के, ज्यादा परोपकारी जीवन नहीं जीते। बनिया अपना मांसल शरीर रोज पवित्र गंगा में धोता है और कई घण्टे पूजा-पाठ में खर्च करता है, मगर अपने बिजिनैस में निर्दयी महाजनों से भी बढ़कर बाजी मारता है। यह बहुत ग़लत बात है कि सत्ताधारियों के लौकिक भौतिकवाद की मान्यता के कारण पूरी पश्चिमी दुनिया को ही दण्ड दे दिया जाये। यह तो वैसा ही है जैसे कुछ कट्टर प्रतिक्रियावादियों के कारण, जिनकी व्यवस्था निस्वार्थ निहित है, पूरी भारतीय संस्कृति को जन्मजात आध्यात्मिक घोषित कर दिया जाये।

दार्शनिक भौतिकवाद को खाने-पीने और मौज करने से कतई मतलब नहीं है। यह पश्चिमी पूँजीवादी सभ्यता की विचारधारा नहीं है। इसके उलटा इस घृणित शत्रु के खिलाफ युद्ध छेड़ने के लिये पूँजीवादी समाज की सभी बुद्धिवादी शक्तियाँ इकजाई हो जाती हैं।

इस प्रकार भौतिकवाद को नकार कर भारतीय राष्ट्रवादी पूँजीवादी सभ्यता को निरस्त नहीं करते हैं, बल्कि उसके साथ एक अपवित्र गठबन्धन करते हैं। वे अपने को इस दशा में इसलिये रखते हैं क्योंकि उनका

नैतिकवाद के प्रति नज़रिया ग़लत है लेकिन शत्रु से अच्छी पहचान हो जाने पर वह उससे प्रेम न करने लगेगा। उस दशा में वे और ज्यादा ईमानदारी तथा अक्लमन्दी से बात करने के योग्य बन सकेंगे। प्रगतिवाद में अपना लक्ष्य प्राप्त करके शक्तिशाली जरिया पा सकेंगे और धार्मिक कट्टरता से वास्ता तोड़ लेने को बाध्य हो सकेंगे।

आज पश्चिमी देशों में रईस लोग भौतिकवाद की दार्शनिक क्रान्ति के खिलाफ हारी हुई बाजी लड़ रहे हैं। लेकिन उनके पूर्वजों को मध्य युग की बर्बर धार्मिकता के विरुद्ध, पूर्व पूँजीवादी समाज की नैतिक और आध्यात्मिक नींव को हिलाने के लिये ऐतिहासिक लड़ाई लड़नी पड़ी थी। उस लड़ाई में उनका वैचारिक हथियार दार्शनिक भौतिकवाद था।

भारत के पुनर्जन्म को सहायता देने के लिये भी भौतिकवादी दर्शन ज़रूरी है। जब तक प्रगतिशील मिजाज के लोग पुराने धार्मिक सोच में सने रहेंगे झूठ-मूठ के बुद्धिवादी बनना और नुकसानदेह होगा। भारतीय समाज के रद्दी ढांचे को तोड़ने की बहादुरी, ऐसे वातावरण में जहाँ प्रगति के सभी उत्प्रेरक रुके हुये हैं केवल वैज्ञानिक ज्ञान द्वारा, स्वतन्त्र उत्साह द्वारा ही पैदा होगी।

आज का भारतीय प्रगतिशील आन्दोलन प्रतिक्रियावादी असबाब से लदा हुआ है, जो अन्तर्विरोध पैदा करता है। आन्दोलन की छिपी हुई ताकतें अपनी ही विचारधारा से जकड़ी हुई हैं। अगर हम भविष्य में आगे बढ़ना चाहते हैं तो हमें भूत से नाता तोड़ने की हिम्मत करनी पड़ेगी। जितना ज्यादा हम पुरानी खूबियों के सदाचार से जुड़े रहेंगे, वे खूबियाँ जो काल के कराल गाल में पड़ कर खूबियाँ या गुण नहीं रहेंगे बल्कि बुराइयाँ बन चुके होंगे, उतना ही हम भविष्य की विजय यात्रा से दूर रहेंगे। हमारे भूतकालीन गौरव में सिर्फ़ इतना ही मतलब का है जितने से हमें भविष्य को प्राप्त करने में मदद मिलती हो। उसका बाक़ी भाग बन्धन स्वरूप है, जिसे स्वतंत्रता प्रेमी प्रगतिशील व्यक्तियों द्वारा

तोड़ देना चाहिये। इसलिये दार्शनिक भौतिकवाद का सही आकलन इस समय की सबसे ज़रूरी और तात्कालिक ज़रूरत है। इससे प्रगतिशील ताकतों को बहुत ही अधिक बल मिलेगा और पहले से ही विलम्बित भारतीय समाज सुधार में गति आयेगी। दूसरी ओर, हमारे विरोधी यानी गुलामी, पतन और प्रतिक्रियावाद के चिन्तक थोड़े से दार्शनिक ज्ञान के साथ अपना पक्ष रख सकेंगे जिससे लड़ाई में बौद्धिक सुख मिलेगा।

मार्क्स और मनु

भारतीय संस्कृति के इतिहास को इत्मिनान से समझने और समालोचनात्मक दृष्टि से परखने के लिए अलग से एक पुस्तक की ज़रूरत होगी। यहाँ पर मैं केवल छुटपुट साक्ष्यों को लेकर अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के स्वभाव को समझाने की कोशिश करूँगा। अपनी संस्कृति के आधुनिक ठेकेदारों और पोषकों के बयानों से लगता है कि भारतीय संस्कृति किसी भी हालत में तथाकथित पश्चिमी संस्कृति से कम भौतिकवादी नहीं है। वास्तव में अध्यात्मवाद यानी जीवन सम्बन्धी धार्मिक दृष्टि, जो भौतिकवादी दर्शन के विपरीत है, हमेशा और हर जगह वलगर भौतिकवाद से सम्बन्धित रही है। इसलिए भारतीय संस्कृति भी सदा से भौतिकवादी रही है—बेशक वलगर अर्थों में। हमारी संस्कृति अपने दर्शन के तो विपरीत है, पर व्यवहार में उसे भौतिकवाद से कोई एतराज नहीं है और यह स्वाभाविक है। आखिरकार भारतीय जन भी, यहाँ तक कि तथाकथित स्वर्णिमयुगीन भारतीय जन भी सांसारिक लोग ही थे। और शायद इसलिये वे अपनी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर नहीं उठ सके। यह मात्र मनगढ़न्त है कि भारतीय सभ्यता शुरू से दूसरी सभ्यताओं से भिन्न है, सभ्यता का स्वभाव परकार की नोंक से नहीं नापा जाता, बल्कि उस युग के वातारवण से नापा जाता है जिसकी वह उपज होती है। जिसे आध्यात्मिक सभ्यता कहते हैं वह पिछड़ेपन की सामाजिक प्रगति है। भारतीय संस्कृति पश्चिम की आधुनिक संस्कृति से इतनी ही जुदा है जितनी कि वह मध्य युग से जुड़ी चली आ रही है।

अभी हाल में डॉक्टर भगवानदास ने एक लेख में भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण स्वभाव का वर्णन कर मौलिक युवा राष्ट्रवादियों को बजाय अपनी स्वदेशी परम्पराओं से ओतप्रोत होने के, विदेशी स्रोतों से अराष्ट्रवादी विचारधारा से प्रेरित होने के लिये फटकारा। डॉक्टर भगवानदास का

कहना है कि भारतीय जन समाजवाद से नहीं डरते हैं। बेशक उनका मतलब अपने समान उच्च विचारों वाले मानववादी भारतीयों से है।

दुर्भाग्य से दूसरे देशों की भाँति भारत के साधारण लोग भी सांसारिक सुख की वास्तविकताओं से संचालित होते हैं। वे लोग दार्शनिक खोज और भावनात्मक ऊँचाई को नहीं छिपाते।

इसलिये समाजवाद भारत में ही नहीं, सभी देशों में एक प्रेत-छाया की तरह फैला हुआ है। बहुसंख्यक जनता को उसने बन्धन मुक्त होने के सिवाय और कुछ खोना नहीं। समाजवाद इस असार संसार में मोक्ष के द्वार खोलता है। इसलिये किसी भी हालत में भारत की निर्धन और घनीभूत जनसंख्या समाजवाद से नहीं डरती और न उसे किसी हालत में डरना चाहिये। इसलिये मौजूदा हालात में भारतीयों का ही उससे स्वार्थ निकलता है। हमें शासकों से अपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि वे समाजवाद की बुराई का शान्ति से सामना कर सकेंगे। वे समाजवाद से डरते हैं और डर ही घृणा को जन्म देता है।

गो कि भारतीय संस्कृति के आधिकारिक प्रवक्ता ने विश्वास दिलाया है कि उनकी आध्यात्मिक परम्पराएँ भारतीय समाज को इस योग्य बनाएँगी कि वे समाजवाद का आलिंगन कर सकें। वास्तव में स्वार्थी ही समाजवाद से डरते हैं और वे भारत में बहुत ही नगण्य हैं। जो सर्वहारा तनज़्ज़ुली, अज्ञान, पीड़ा और बेबसी से लाभान्वित होते हैं उनका रुख पश्चिमी भौतिकवाद के खिलाफ और घृणायुक्त है। केवल सुविधा सम्पन्न लोग ही नहीं अपितु राष्ट्रीय नेतागण भी जो सर्वहारा के दुख-दर्द के संरक्षक कहे जाते हैं, युवा पीढ़ी में समाजवादी भावना नहीं बढ़ने देते। आर्थिक कठिनाइयों से पीड़ित और मॉडर्न शिक्षा से प्रभावित हमारी पूज्य परम्पराओं के बन्धन टूटते जा रहे हैं। यह देख कर उनकी त्योरी चढ़ती जाती है। दरअस्ल राष्ट्रीय नेताओं ने समाजवाद के खिलाफ या उसके प्रति अनिच्छा ज़ाहिर की है।

डॉक्टर भगवानदास का कथन बेबुनियादी समझ कर निरस्त कर दिये जाने योग्य नहीं है। उनके कथन में विशिष्टता है। उन्होंने वास्तविकताओं को छिपाने के लिये काफ़ी मेहनत की है। मॉडर्न बुद्धिजीवी समाजवाद की ओर आकर्षित हैं। जैसे बिगड़ैल बच्चे को खिलौना चाहिये वैसे ही उसे धोखे में रखो ताकि वह और अधिक ख़तरनाक विचारधाराओं की ओर न मुड़े। समाजवाद से डॉक्टर भगवानदास का मतलब है—घृणित भौतिकवादी सिद्धान्तों से मिलकर कोई चीज़ जिसे पथभ्रष्ट अराष्ट्रीय भारतीय युवा विदेशी परम्पराओं से सीख रहे हैं और वह सीख अवश्यमेव झूठ है, अगर उनकी शिक्षा मनु महाराज से मेल नहीं खाती है।

डॉक्टर भगवानदास और भारतीय संस्कृति के अन्य कट्टर दावेदारों की राय है कि समाज विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, क़ानून और समाजशास्त्र पर प्राचीन भारत के महात्मा आप्त वचन दे चुके हैं। इसलिये उत्साही युवा समुदाय को सामाजिक न्याय सम्बन्धी ज्ञानार्जन के लिये मनु को छोड़ कर मार्क्स से प्रेरणा लेते देख कर वे क्षुब्ध हो रहे हैं। भारतीय समाजवादियों को मार्क्स को त्याग कर मनु की बुद्धिमत्ता से मार्गदर्शन लेना चाहिये और भारत मां की सर्वगुण सम्पन्न गोदी में बैठना चाहिये। अगर समाजवाद पारम्परिक नैतिक ग्रन्थों से मेल खाता है तो उच्चस्थ और यथास्थिति से लाभान्वित लोगों को डरने की कोई ज़रूरत नहीं है।

इस प्रकार का समाजवाद डॉक्टर भगवानदास के दिमाग़ में है—जब वे ऐसा सर्वग्राही विचार व्यक्त करते हैं। धन्य है आध्यात्मिक संस्कृति जिससे प्रभावित होकर भारत के उच्चवर्गीय लोग अपनी झूठी शान-शौकत त्याग देंगे। माना कि पहले ऐसे लोग थे, मगर भारत आज ऐसे दयावान भद्र पुरुषों की डींग नहीं मार सकता। इसके अलावा उदारता एक गुण हो सकता है। मगर यह सामाजिक न्याय नहीं हो सकता। यह जले पर नमक छिड़कने जैसा है। भिक्षा देना समाजवाद नहीं है। भारत तथा अन्य देशों में कुछ लोग बड़ी ही उदारता से भिक्षा दान करते हैं। वे लोग

भी हैं जो अपनी भ्रष्ट कमाई का एक हिस्सा दान में लगाते हैं। उस लिहाज से मनु का समाजवाद भौतिकवादी अमेरिका में अध्यात्मवादी भारत से कम नहीं है। राक्फेलर और कारनेगी तो समाजवाद के अवतार माने जाने चाहिये। और वह सभ्यता जो दर्जनों जनक पैदा करे उस पर भौतिकवाद कह कर लाँछन नहीं लगाना चाहिये।

हमें यह मानकर चलना चाहिये कि मनु ने पहले से ही अपना सोच मार्क्स की शिक्षा से लिया होगा और वैज्ञानिक समाजवाद प्राचीन भारत में अनजानी चीज़ भी नहीं थी। फिर उस सिद्धान्त के प्रति मुख़ालिफत क्यों है, जिसे आप ख़ुद बाहरी नहीं मानते। चूंकि मार्क्स ने केवल मनु के कथन को दोहरा दिया इसलिये उसकी मुखालिफत करने में कोई औचित्य नहीं है कि युवा पीढ़ी मनु की सेकेण्ड हैण्ड शिक्षा ग्रहण कर रही है। वे सही रास्ते पर हैं। अगर मार्क्सवाद केवल मनु की ही बुद्धिमत्ता की अनुगूंज है तो ग़लत जा रही युवा पीढ़ी घूम-फिर कर अपने आप वापस आ जायेगी। उन्हें रस्सी क्यों न पकड़ा दी जाये और उनके लौटने का इन्तज़ार किया जाये।

वास्तव में इस अद्भुत मनोभाव के पीछे कारण हैं—मार्क्सवाद के अवरोध के माने हैं वास्तविक समाजवाद के फैलने का डर। अगर मनु की श्रद्धा से दूर हटकर मार्क्स द्वारा प्रचारित सामाजिक न्याय के आदर्श भारतीय युवाओं को मोहित करते हैं तो इसका मतलब है समाजवाद और मध्य युग के भद्र और सामन्ती सामाजिक ग्रन्थों में कोई साम्य नहीं है। मनु के ग्रन्थों में चाहे जो विशेषताएँ हों वे समाजवादी नहीं हो सकतीं। यह बिना तर्क के सही है। मनु को पढ़ने की ज़रूरत है। तभी पता चलेगा कि वे नई सामाजिक व्यवस्था के पैगम्बर नहीं थे बल्कि पारम्परिक व्यवस्था के पोषक थे। और वह व्यवस्था कतई समाजवादी नहीं थी। यहाँ तक कि आदिम युग के लिहाज से भी नहीं थी।

मनु के क़ानून ख़ुद उस सामाजिक व्यवस्था की पुष्टि करते हैं जिनकी रक्षा के लिये उन्होंने क़ानून बनाये थे। उस व्यवस्था पर पुरोहित और

बुर्जुवा हावी थे। वे दयालु हो सकते हैं पर लोकतांत्रिक मिजाज के कतई नहीं थे। उनके अधिकार क्षेत्र संवैधानिक तौर पर भी सीमित नहीं थे। मनुस्मृति सामाजिक कर्तव्यों का निरूपण करती है। उसमें आम तौर पर स्वीकृत कर्म-काण्डों का जिक्र नहीं है। यहाँ तक कि आदिम युग में स्वीकृत बहुत मामूली क़िस्म के भी नहीं। निस्सन्देह मनु ने जनजातियों के स्तर से ऊपर के समाज के लिये क़ानून बनाये थे। वैदिक काल के पूर्व का आदिम साम्यवाद गायब हो चुका था। मनु के समय समाज का आधार बुजुर्ग और भद्र पुरुषों द्वारा संचालित निजी सम्पत्ति थी और धार्मिक राज्य द्वारा उसकी गारण्टी दी जाती थी। मनु का पूरा सामाजिक दर्शन उनकी धर्म की परिभाषा में समा जाता है और यह धर्म की अवधारणा है जो दुनिया के लिये भारत का सन्देश माना जाता है। धर्म एक सामाजिक व्यवहार की धार्मिक नैतिक विचारधारा है। मनु उसकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं :

धृतिः क्षमा दमो स्तेयम् शौचं इन्द्रिय निग्रह
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम्

सद्गुणों का एक भंयकर सूची पत्र। इनमें से करीब सभी सद्गुणों का, आसानी से बल्कि फायदे के साथ, उच्चवर्गीय भद्र पुरुषों और पुरोहितों द्वारा पालन किया जा सकता है। बाक़ी तत्कालीन समाज के लिये इन सद्गुणों के पालन के माने होंगे स्वेच्छा से उस व्यवस्था के प्रति अपने को समर्पित कर देना। इन युगों पुराने देवताओं को ज़रा नजदीकी से देखें तो असलियत अपने आप उभर कर सामने आ जायेगी।

संतोष, उन लोगों को इस सद्गुण की शिक्षा देने का कोई औचित्य नहीं जिन्हें संतोष करने का सवाल ही नहीं। संभ्रान्त लोगों को इसे पालन करने में कोई श्रम नहीं करना है। निर्धनों का असन्तुष्ट रहना अति स्वाभाविक है। और नैतिक तौर पर उचित भी है। लेकिन यह यथास्थितिवाद भी बराबर क़ायम रहने वाली एक बुराई है। संतोष को

धार्मिक ड्यूटी बना कर पालन करने का मतलब था—संभ्रान्त जन की गद्दी की ज्यों की त्यों सुरक्षा। संभ्रान्त जन के लिये यह सद्‌गुण एक व्यवसाय की तरह है। जो सत्कर्म और पवित्रता की झूठी भावना भरता है। लेकिन जन सामान्य के लिये संतोष का पालन एक भारी समस्या है। अगर वे संतोष करते हैं तो उन्हें वास्तविक त्याग करना पड़ेगा। क्षमा तभी तक सद्‌गुण है जब ये उनके द्वारा अमल में लाया जाये जिनसे ग़लती हुई है। इस तरह नैतिक बोझ फिर सर्वहारा के ही सिर जाता है जो लगातार दुःख झेलते आये हैं और मुट्ठी भर लोगों पर शक्ति और शान क़ायम रखने की जिम्मेदारी है। तब इस सद्‌गुण की अमलदारी एक राजनीतिक स्तुति की तरह मानी जायेगी। शक्तिशाली व्यक्ति शान-शौकत बरकरार रखने में समर्थ है और वह दलितों के आभार पर टिकी है। क्षमा एक गुण न होकर पाखण्ड है। अपराध को क्षमा कर दिया जाना नैतिक तौर पर मान्य है। एक भूखे द्वारा की गयी चोरी को माफ कर देना कोई गुण नहीं है।

जब तक सर्वहारा को अपने आप पर संयम रखना नहीं सिखाया जाता यानी जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के बिना भी रहने की आदत नहीं डाली जाती तब तक उनकी श्रम शक्ति से पैदा फालतू उत्पादन उच्च वर्ग के हाथों में नहीं सिमट सकता। संयम अलाभकर मिल्कियत पर आधारित समाज का मूल धार्मिक-नैतिक सिद्धान्त है। सीमित तौर पर यह एक प्रकार से दलितों के कार्य-कलाप और भावनाओं को अवरुद्ध करना है और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नकारना है और कुदरती ख्वाहिसात में रुकावट डालना है। यह सामाजिक ताड़ना का एक बहुत ही जटिल लेकिन प्रभावी तरीक़ा है, जो दिमाग़ी दशा और भावनात्मक स्तर पर अत्यन्त हानिप्रद है। जिसे गुण माना गया है वह संयम नहीं बल्कि अपने को विनष्ट करने का तरीक़ा है। संयम को सामाजिक और नैतिक स्तर पर वांछित तथा ज़रूरी माना गया है। मगर इसका मतलब है व्यक्ति का

वजूद और उसकी सामान्य शारीरिक क्रिया (बायोलोजिकल फंक्शन) पर रोक। सर्वहारा के शारीरिक और भावनात्मक जीवन पर जबरिया रोक लगा कर सुख-चैन ढूँढ़ने के माने हैं आदमी के भविष्य को ताक पर रख कर यथास्थितिवाद को क़ायम रखना। संयम की अवधारणा सर्वहारा के जीवन स्तर को जहाँ का तहाँ रखने की गारण्टी है। किसी देश का आर्थिक विकास निर्भर करता है उसके जन सामान्य की खपत की योग्यता पर। यह अर्थशास्त्र का मामूली-सा सिद्धान्त है। संयम-धर्म पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित था और उत्पादन के फैलाव को रोकता था। सम्पूर्ण उत्पादन को जानबूझ कर उच्च वर्ग की शान-शौकत क़ायम रखने के लिये सीमित किया गया था। यह तभी सम्भव था जब उत्पादन मशीनरी को यानी सर्वहारा को सादा जीवन जीने के लिये मजबूर किया जाता या उन्हें डांट-डपट कर वैसा करने को बाध्य किया जाता कि जितना ही सादा जीवन उतना ही अच्छा। संयम का गुण केवल सर्वहारा को चूसने और उसे बर्बाद करने के लिये बना था।

सूची का अगला गुण है स्तेयम् यानी व्यक्तिगत जायदाद की हिफ़ाजत। यह अकेला गुण इस गुत्थी को सुलझा देता है कि मनु महाराज कितने समाजवादी थे। डॉक्टर भगवानदास की राय पर चलकर समाजवादी, विदेशी समाजवादी सिद्धान्तों को छोड़ कर सामाजिक न्याय के लिये मनु के आदर्शों की ओर झुकते हैं, तो उन्हें इस अधर्म को अपनाने से दूर रहना चाहिये। राष्ट्रीय नेता, जो भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के वफ़ादार हैं और सामाजिक न्याय के प्रति सहानुभूति रखते हैं, जायदाद सम्बन्धी चली आई मान्य स्थापनाओं में कोई भी छेड़खानी बर्दाश्त करना नहीं चाहते। मध्य युग के सामाजिक दर्शन में जहाँ जाति-जायदाद धर्म द्वारा सुरक्षित थी, समाजवादी सिद्धान्त ढूँढ़ना बहुत बुरी बात है।

इसके बाद सूची के बचे हुए गुणों की व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं रह जाती। उसमें से कुछ तो मामूली फ़र्क़ के साथ वही हैं, जिनकी व्याख्या

की जा चुकी है। दूसरे तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी उड़ानें हैं जिन पर जैसी चाहो वैसी व्याख्या की जा सकती है। मिसाल के तौर पर सत्य। जब तक यह तय न हो जाये कि सत्य क्या है? इस सवाल का धार्मिक उत्तर मनवांछित उड़ानों को ही सत्य मानता है। खालिस झूठ को निचोड़ कर सत्य निकालना। सत्य और वास्तविकता में साम्य होना चाहिये। वास्तविकता एक बाह्य (आब्जेक्टिव) घटना है। जिसमें परिवर्तन नहीं होता, वह वजूद में नहीं होता। इसलिए परिवर्तन ही मात्र सत्य है। लेकिन धर्म, तत्त्व-ज्ञानी-तसौवर को चरम सत्य के आसन पर बैठाता है। यह 'चरम' बाह्य जगत् में सत्य नहीं है। इसलिये यह बिलकुल झूठ है। चूंकि वास्तविकता परिवर्तनीय है इसलिये इससे साम्य रखने वाली कोई चीज़ स्थिर नहीं हो सकती। कहीं भी कोई चरम सत्य नहीं है। सत्यता का अमूर्त सिद्धान्त (एब्सट्रेक्ट) अर्थहीन है। आज जो सत्य है कल शर्तिया तौर पर वही झूठ हो सकता है और ऐसा ही पिछले दिन हुआ होगा। जो एक कोण से देखने में सही लगता है वही दूसरे कोण से देखने पर झूठ लगने लगता है। चरम सत्य का तर्कहीन सिद्धान्त समाज के यथास्थितिवाद को क़ायम रखने के लिये बनाया गया था। यहाँ तक कि हिंसा और बलपूर्वक विवश करना भी उसमें शामिल है। अगर सत्य अटल है तो फिर कोई भी परिवर्तन सत्य का उल्लंघन होगा। सत्यता, समाज व्यवस्था के प्रति वफादारी का नाम है और समाजवादियों को राय दी जाती है कि वे इस आध्यात्मिक दर्शन से प्रेरणा लें।

समाजवादियों को छोड़िये, यहाँ तक कि जो मामूली से समाज सुधार की भी वकालत करते हैं, मनु में उच्चादर्श और प्रगतिशील सिद्धान्त नहीं पाते हैं। वास्तव में भारतीय क्रूर क़ानूनदांओं ने मध्ययुगीन वर्गवाद के क़ानूनों को जन्म दिया। उनके क़ानून पुरोहितों और भद्र पुरुषों के स्वार्थों को संरक्षण देने के औजार थे। मार्क्स के शिष्य बनने के लिये किसी को अन्तर्राष्ट्रीय बनने की ज़रूरत नहीं। पहले से ही लेट समाज

सुधार के लिये मनु की शिक्षा का परित्याग करना चाहिये। बनारस विश्वविद्यालय के उदारवादी प्रोफेसर एस.बी. पुताम्बेकर लिखते हैं— 'बेशक मनुस्मृति एक आध्यात्मिक दृष्टि, नैतिक बल, सामाजिक संगठन, मूल सिद्धान्त, राजनैतिक योजना और शैक्षिक प्रणाली है।' शैतान को उसका हक देने के बाद फिर वे लिखते हैं—लेकिन वह आज के संदर्भ में सहायक नहीं है। सामाजिक तौर पर यह विजेताओं और सामन्तों का ग्रन्थ है, जो सामन्ती युग के अनुरूप था। वह असमानता, वर्गवाद और विशिष्ट स्वार्थों के सामाजिक ढाँचे और सामाजिक न्याय का आधार है। इसमें दस्तकारों और व्यवसाइयों, मजदूरों को शरीफों, पुरोहितों के मुकाबिले बराबरी का दरजा या अन्य छूट नहीं दी गयी। पुरोहित और भद्र जन ही बहादुर और समाज के संरक्षक माने जाते थे—सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में। जाती जायदाद की पवित्रता, पुश्तैनी विरासत और वर्गवाद इसके मुख्य नैतिक आधार हैं। राज्य की दैवी शक्ति, रईसी, उनकी शक्ति और विशेषाधिकार उसके राजनैतिक सिद्धान्त हैं। इनमें से कोई भी तो नये वक़्त की स्पिरिट या फिलासफी से मेल नहीं खाते हैं।

यहाँ पर नैतिक बल और बौद्धिक ईमानदारी से युक्त एक आदमी बोला है। वह अपने मनु को पहचानता है और उस पर पर्दा डालने के लिये मनगढ़न्त रचनाएँ नहीं बुनता है। वह मनुस्मृति की, तत्कालीन समय के संदर्भ में तारीफ़ करता है, लेकिन चरम सत्य के तत्त्व-ज्ञानी अन्धविश्वास से पीड़ित नहीं हैं। जो भूतकाल में शुभ था, गुण युक्त था, उपयोगी था उसे समय के प्रभाव से अछूता मानना उचित नहीं। उक्त प्रोफेसर मनुस्मृति के सही आकलन के बाद रुके नहीं। वह उन लोगों के इरादों की ओर इंगित करते हैं जो 'चलो मनु की ओर' की रट लगाये हुए हैं लेकिन उनके द्वारा बनाये आध्यात्मिक समाज-सिद्धान्तों को साहस के साथ नंगा नहीं करते।

आज नये प्रजातंत्र और मौलिक दर्शनों की मारकाट के बीच हमारे कट्टरवादियों ने मजबूर होकर सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक प्रगति की विचारधारा के बारे में विचार करना शुरू किया है। उनकी विचारधारा (फिलासफी) बेशक, क्षमाशील व खेदसूचक और धनवानों, रईसों और विशेषाधिकारयुक्त वर्ग के संरक्षण के रूप में उभरी है। मगर मौजूदा समय की भावनाओं के कारण उनके मुख्य प्रवक्ता कट्टरवाद को ज्यादा लम्बा नहीं खींच सकते। वे अन्य उदारवादियों के तमाम मुद्दों को मानने को तैयार हैं बशर्ते वे ख़ुद सामाजिक और आर्थिक विशेषाधिकारों को इस्तेमाल करने की छूट पाते रहें। यहाँ तक कि वह आगे आने को भी तैयार हैं लेकिन उनकी जाती जायदाद और व्यक्तिगत अधिकार सुरक्षित रहें। इसलिए बजाय किसी सामाजिक या नैतिक सिद्धान्त को मानने के, वे अपनी जायदाद, स्वार्थ तथा सामाजिक हैसियत के प्रति ज्यादा चिंतित हैं। इसलिये वे जाती जायदाद ख़ास कर भूमि, उत्तराधिकार के मौजूदा क़ानून, टैक्स क़ानून, वर्ग तन्त्र और यथास्थितिवाद की वकालत करते हैं। वे अपने बुजुर्गों और संस्थाओं तथा परम्पराओं में विश्वास करते हैं। उन्हें नई ईजादों—बुद्धिवाद और प्रजातन्त्र के ग़ैर आजमाये उसूलों में जो धर्म, समाज और राजनीति को पुनर्गठित कर रहे हैं, कोई आस्था नहीं है। वे व्यक्तिगत बुद्धि की शक्ति में विश्वास नहीं रखते। उनको भूतकालीन योग्यता, संस्थान और संस्कृति में कुछ रहस्यात्मक, पवित्र, ज़िन्दा और शाश्वत तथ्य दिखायी पड़ता है। वे देश के क़ानून और पारम्परिक संस्थाओं के खिलाफ कोई अवज्ञा या आक्रमण करने में विश्वास नहीं करते। न ही उन्हें किसी क़िस्म की क्रान्ति में विश्वास है। वे भूत से किसी क़िस्म का सम्बन्ध विच्छेद नहीं चाहते। कट्टरवादियों का आदर्श एक क़िस्म का वैचारिक सामंतवाद है। वे एक विशिष्ट, पुश्तैनी, रईसों द्वारा संचालित वर्ग में विश्वास करते हैं। वे किसी भी प्रजातान्त्रिक पद्धति, जो समानता या स्पर्धा पर आधारित हो, के खिलाफ हैं। उन्हें कर्मकारी

संगठन (जाति व्यवस्था) और उनमें छुपे अधिकार तथा मध्ययुगीन समाज के दरजे पसंद हैं।

आध्यात्मिक विचारधारा के खिलाफ यह बहुत ही खौपनाक कलंक है जो राष्ट्रीय आन्दोलन पर हावी है। निराश उदारवादियों से, जो अपने देश की आज़ादी के मतवालों की आलोचना करते हैं, ग़ुस्सा होने से कोई फ़ायदा नहीं। वह एक दुष्ट प्रवृत्ति होगी। चिन्ता की बात यह है कि जिन्होंने सत्य के प्रति समर्पण किया है उन्हें सत्य का सामना करने से नहीं डरना चाहिये। जितनी जल्दी दर्पपूर्ण आध्यात्मिक परम्पराओं का सत्य समझ लिया जाये उतना ही जल्दी भारत के भविष्य के लिये बेहतर होगा। अगर उसे प्रगति और समृद्धि के लक्ष्य की ओर बढ़ाना है तो अधिसंख्यक नेताओं द्वारा मान्य विचारधारा से सम्बन्ध विच्छेद करना ही पड़ेगा। जिस दिन दिल्ली में समाजवाद पर एक बहस हुई उस दिन तमाम प्रमुख कांग्रेसी नेताओं ने उसमें भाग लिया। किसी न किसी कारण से सबने इस बात का विरोध किया कि भारत की आर्थिक समस्या का निदान केवल समाजवाद अपनाने से होगा। कांग्रेस पार्टी के जनरल सेक्रेट्री ने तर्क रखा कि भारत कभी भी समाजवाद मंजूर नहीं कर सकता क्योंकि इसका सम्बन्ध भौतिकवादी दर्शन से है जो भारतीय परम्पराओं से मेल नहीं खाता है। एक आचार्य जो मामूली प्रोफेसर नहीं थे उन्हें तालियाँ बजवाने वाले तर्क देकर संतोष नहीं करना चाहिये था। उन्हें कुछ मौलिक और वैज्ञानिक बात कहनी चाहिये थी। उन्होंने बेशक एक तर्क रखा जो कि बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था, पर शर्तिया तौर पर मौलिक था यानी मुख्य वार्ता के प्रति अमूल अज्ञान और प्रस्तुत विषय के साथ विश्वासघात। उनका अद्‌भुत अन्दाज था कि भौतिकवादी दर्शन खोजबीन को हतोत्साहित करता है, इसलिये वह अवैज्ञानिक है। मानव विकास के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि शोध और खोज का कार्य केवल उन्हीं विचारों को निरस्त करने से पैदा होता है जो भौतिकवाद के उलटा

पड़ते हैं। प्रकृति के विरुद्ध और अलौकिक शक्तियों में विश्वास जो कि आध्यात्मिक दर्शन की जान है, मानव बुद्धि को सीमित कर देता है क्योंकि अगर वह मानव बुद्धि की समझ में आता हो तो उसे अप्राकृतिक या अलौकिक ही क्यों कहा जाता। आस्था और खोज एक दूसरे से भिन्न चीज़ें हैं। अन्वेषण करने की भावना का 'देव आज्ञा' सिद्धान्त से कतई मेल नहीं बैठ सकता। और न ही वह गूढ़ अध्यात्मवाद के अनुरूप ही बैठता है। हिन्दुओं की 'लीला' और अन्य धार्मिक विश्वासों में, जिनमें व्यक्तिगत देवता द्वारा सृष्टि सृजन माना जाता है, के बीच बहुत ही मामूली फ़र्क़ है। दोनों बराबर के अन्धविश्वासी हैं। 'लीला' का सिद्धान्त भी व्यक्तिगत देववाद पर आधारित है। विवेकहीनता धर्मदर्शन का ज्ञान होने के नाते, अन्वेषण की भावना के विरुद्ध है और फलस्वरूप मॉडर्न साइंस का स्थान उक्त दर्शन के विरोध से ही मेल खा पाता है।

यह ऐतिहासिक वास्तविकता है कि वैज्ञानिक विकास द्वारा गतिमान, विवेकपूर्ण क्रान्ति ने अपनी परिणति भौतिकवादी दर्शन में की है। घटनाओं के कार्यकारी स्वभाव का लगातार अन्वेषण यह मान कर चलता है कि दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी जाँच या खोज न हो सके। यानी जिस वस्तु का वजूद है वह जानी जा सकती है—भौतिकवाद का यह मूल सिद्धान्त है। शायद कृपलानी अन्वेषण को बाह्य जगत् के बारे में सोचना मानते हैं। लेकिन वह वैज्ञानिक जाँच नहीं है जिसमें आदमी शुद्ध-ज्ञान द्वारा पुष्ट होकर उसके अस्तित्व के रहस्य को आगे बढ़ाने में मदद न करे। अकर्मण्य तत्त्व ज्ञान (मेटाफिजिक्स) चरम तत्त्व के बारे में फलहीन श्रम है। भौतिकवाद अब तक के अज्ञान को जानने की प्रेरणा देता है। जो जानने योग्य नहीं है उसे जानने की व्यर्थ कोशिश जाँच नहीं है। भौतिकवाद नहीं कहता कि हर चीज़ जान ली गयी है। वह सिर्फ़ यह कहता है कि जिस चीज़ का वास्तविक अस्तित्व है उसे जाना जा सकता है। यहाँ तक कि भावना, आत्मा और ईश्वर की खोज सुसंगत ढंग से

भौतिकवादी जाँच के बाहर नहीं है। बशर्ते उनके वजूद का कुछ विवेकपूर्ण आधार दर्शाया जाये।

यह तो रहा कृपलानी का विषय के प्रति अज्ञान और वे इसे पूर्ण बुद्धिमत्ता और हिम्मत के साथ बोलते हैं। अगर उन्हें उस अज्ञान के विभूषित होना था, जो एक शख़्स अपने अभिमान व दम्भ से पालता है, तो उनका सत्य के प्रति रुख सन्देहपूर्ण है। अध्यात्मवाद के प्रवक्ता के रूप में ख्याति अर्जन से पहले उन्हें अन्वेषण सम्बन्धी भावना को अपनाना चाहिये था। उस पर निर्णय देने से पहले, थोड़ा-सा भौतिकवाद के बारे में जानना चाहिये था।

कृपलानी का सत्य के बारे में अज्ञान या उनका विरोध कोई ख़ास बात नहीं। यहाँ पर कुछ और भी हैं जो साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति इतनी आध्यात्मिक नहीं है, वह उतनी ही भौतिकवादी है जितनी पश्चिमी सभ्यता। जिसे राष्ट्रीय कट्टरवादियों ने इतना गन्दा कर रखा है। उसी बहस में मद्रास के उद्दण्ड वक्ता सत्यमूर्ति ने कहा कि 'भारत कभी समाजवाद नहीं अपना सकता क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति का मोह भारतीय संस्कृति में बहुत गहरे पैठ चुका है।' यह चौंकाने वाली बात है। हमें सत्यमूर्ति को सत्य उजागर करने के लिये बधाई देनी चाहिये। सत्यमूर्ति ने मनु की सही भावना को व्यक्त किया है। मार्क्स की शिक्षा से चुनौती लेकर मनु के अनुयायियों ने मैदान मारने के लिये हर चीज़ के संरक्षक बनने की ठानी है, जो समाजवाद के उलटा पड़ती हो।

समाजवाद वास्तव में जाती जायदाद को ख़त्म करने के पक्ष में नहीं है। उसके अन्तर्गत व्यक्तिगत सम्पत्ति बतौर उत्पादन और वितरण के ख़त्म होनी चाहिये। वरना आदमी द्वारा आदमी के शोषण की प्रथा बनी रहेगी। इस प्रथा में समाज में वर्ग पैदा होते हैं। और समाज में स्वार्थ, लोभ, हिंसा तथा अन्य तमाम अनैतिक बातें पैदा होती हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति

के मोह में और समाजवाद के विरोध में, आदमी द्वारा आदमी के शोषण का पक्ष निहित है। आदमी हमेशा उसे बचाता है जिसका उसे ख़तरा होता है। समाजवाद उत्पादन मशीनरी के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति का ख़तरा पेश करता है। भूमि, पूँजी, फैक्ट्री, मशीनें इत्यादि वे चीज़ें हैं जो सर्वहारा के शोषण के हथियार बने हुए हैं।

यह विश्वास कि भारतीय समाज की ऐसी बनावट है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति को उस स्तर तक विकसित करने को रोकती है जहाँ वह ख़ुद शोषण का औजार बन जाये। अचम्भे की बात है। इससे तो अर्थशास्त्र के विज्ञान और विकासगत नियमों से एकदम अनभिज्ञता व्यक्त होती है।

केवल प्राकृत जनजातियों में, जहाँ उत्पादन का जरिया एक व्यक्तिगत उत्पादक के हाथ में होता था और आर्थिक रिश्ते केवल अदला-बदली तक सीमित रहते थे, व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रत्येक रूप में और हमेशा शोषण का जरिया रहा है। प्रारम्भिक अवस्था में उत्पादन मशीनरी का मालिक उत्पादक का पार्ट अदा करता है। पूँजीवाद पूर्व व्यवस्था में राजा, सामन्त, और पुरोहित परजीवी या पराश्रयी रहे हैं। इन स्थितियों पर आधारित समाज स्थिर रहता है। ऐसा समाज वज्र धार्मिक-नैतिक क़ानूनों द्वारा क़ायम रखा जाता है। जैसे मनु का स्मृति ग्रन्थ इन क़ानूनों का सफलतापूर्वक प्रचलन नई शक्तियों को उठने से रोकता है और पूँजीवाद का उदय होता है जो प्रकारान्तर में मध्ययुगीन व्यवस्था को ख़त्म करता है।

मनु के बावजूद भारत का आध्यात्मिक वातावरण पूँजीवाद के जर्म्स से अछूता नहीं रहा। धन्य हैं वे जर्म्स कि भारत ने बहुत पहले ही ऊँचे स्तर की सभ्यता हासिल कर ली। तैयारशुदा सामान का सम्पन्न व्यवसाय बिना बिचौलियों के पनप नहीं सकता था। उपभोक्ता सामग्री की बहुलता में उत्पादन की बचत को सीमित किये बिना दूरवर्ती व्यवसाय सफल नहीं हो सकता था। चूंकि भारत ने ईस्वी सन् से पहले ही बने-बनाये

सामान का निर्यात शुरू कर दिया था, व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्तिगत उत्पादकों के हाथों से बाहर निकल चुकी थी और सम्पत्तिहीन उत्पादकों के शोषण का विकास हो चुका था। पूँजीवाद अब भी बहुत दूर था। लेकिन पूंजीवाद ही अकेला शोषण का जरिया नहीं है। पूँजीवाद पूर्व के शोषण कम बुरे नहीं थे। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत की आध्यात्मिक सभ्यता पराश्रयी और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित थी।

इस प्रकार यह कोई विशेष विवेक का कार्य नहीं था कि भारत ने जानबूझ कर मॉडर्न पूँजीवाद का रास्ता त्याग दिया। वास्तव में वह तब से उस रास्ते पर अग्रसर था जब दूसरे लोग पर्दे पर दिखायी भी नहीं दिये थे। अच्छी शुरूआत करने के बाद वह पिछड़ गया। कारण, उसकी आध्यात्मिक संस्कृति। धर्म का जबरिया पालन, जिसने सर्वहारा के उन उत्प्रेरकों को मार दिया, जिससे उत्पादक शक्तियाँ पैदा होती हैं और जिससे एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव होता जो प्रतिक्रियावादी और बुर्जुवा समाज से नेतागिरी छीन सकता था। भारत माडर्न सभ्यता तक पहुँचने में इसलिये असफल रहा क्योंकि वह हमेशा पराश्रयी, पिछड़ेपन और आर्थिक रूप से बर्बाद व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा में जुड़ा रहा।

सर्वहारा की लागत पर उद्योगों का विकास ही राष्ट्रवाद का प्रोग्राम है। मनुरूपी भूत का उद्धरण देकर धर्म की शिक्षा देने से इस स्वार्थपूर्ण प्रोग्राम की प्राप्ति बहुत लाभप्रद होगी। फिर भी कुछ सौभाग्यशाली लोगों के भौतिक अभ्युदय के लिये पर्वताकार प्रतिक्रियावादी परम्पराओं के नीचे सर्वहारा को आसानी से संयम और त्याग को अमल में लाने को कहा जायेगा। यह काम भूतकालीन अध्यात्मवाद के प्रति आदर नहीं बल्कि भौतिकवादी भविष्य की आकाँक्षा है, जो सर्वहारा हितैषी कट्टर राष्ट्रवादियों द्वारा समाजवाद के प्रति शत्रुता का प्रतीक है। ऊपर सत्यमूर्ति का बयान एकाएक नहीं था। यह बयान बाक़ायदा राष्ट्रवादिता के दर्शन को स्वीकार करने के बाद दिया गया था। दूसरे कांग्रेसी भी अक्सर ऐसे

ही ख़याल व्यक्त कर चुके हैं गो कि उस कठोरता के साथ नहीं। सत्यमूर्ति उन्हीं कांग्रेसियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'चलो मनु की ओर' या 'चलो गाँव की ओर' उक्त नारों के साथ चलाये गये आन्दोलन से साम्राज्यवाद हटाना क्रान्ति विरोधी क्रान्ति हो सकती है। भारत न मनु तक पहुँच पायेगा और न ही गंवारों को सादगी तक सीमित रख सकेगा। राजनीतिक तौर पर एक अप्रजातान्त्रिक हुकूमत बैठा दी जायेगी। और इस उद्देश्य के लिये पुरानी सांस्कृतिक परम्पराएँ इस्तेमाल की जायेंगी। सामाजिक तौर पर नई हुकूमत एक महा ख़राब मिलावट होगी—जन नायकों द्वारा प्रताड़ित और लुकछिप कर पश्चिमी सभ्यता की ओर उत्सुक। यह बहुत बुरी मिलावट होगी। क्योंकि वहाँ कोई प्रजातान्त्रिक आज़ादी नहीं होगी और सांस्कृतिक प्रगति अक्सर पूँजीवादी विकास से सम्बन्धित होगी। तिरंगे कट्टरवादी राष्ट्रवादी के लिये पूर्ण स्वराज अस्थिर और सर्वहारा का शोषण करने वाली हुकूमत होगी। राष्ट्रवादी हुकूमतों ने बहुत बुरी तस्वीरें पेश की हैं। कट्टर राष्ट्रवादी हुकूमत में भारत का भी वही हाल होना है।

यह न कोई दूषित कल्पना है न ही बकवास। किसी व्यक्तिगत नेता के चरित्र से हमारा मतलब नहीं। इस आलोचना का उद्देश्य उस पूर्वग्रही विचारधारा से है जो जन जीवन पर प्रतिक्रियावादी प्रभाव डालती है। इसलिये हर हालत में उसे उतार फेंकना है। वे चाहे जितने अच्छे, पाक, परोपकारी और आध्यात्मिक हों और निस्वार्थी लोगों द्वारा बनाये गये हों। वास्तव में उसकी ऐसे लोगों द्वारा वकालत की जाती है जिनकी भौतिकता व मानववादिता पर सुबहा न हो। और वे किराये के टट्टू या पुराणपन्थी लोग पारम्परिक प्रतिभा के मापदण्ड माने जाते हैं। इसलिये उनकी आलोचना और अधिक तीव्र और मूर्तिभंजक रूप से होनी चाहिये। प्रचलित परम्पराओं और मकबूल सिद्धान्तों को वैज्ञानिक सख़्ती से तराशना चाहिये और तर्कसंगत रूप से उन्हें अन्तिम नतीजे तक ले जाना

चाहिये तभी पता चलेगा कि वे फायदेमन्द हैं या नुकसानदेह। क्योंकि विचारधारा ही कर्म करने को उद्यत करती है। जितने ही हमारे विचार स्पष्ट होंगे उतनी ही प्रभावी कार्यवाही होगी।

कट्टर राष्ट्रवाद के अन्तर्गत बहुत ही प्रतिक्रियावादी अधिनायकवाद की स्थापना होगी। दयावान बुजुर्गों का मुखौटा लगाकर सामाजिक समरसता के नाम पर विकट पराश्रयी शोषण आरम्भ होगा। अभी देश से हमने समाजवाद के प्रति आपत्तियाँ सुनी हैं—कुछ बुद्धिमानी की, कुछ भीड़-भड़क्के की। इन आपत्तियों पर ग़ौर से सोचें तो पायेंगे कि वे आपत्तियाँ समाजवाद के खिलाफ नहीं हैं बल्कि प्रजातान्त्रिक आज़ादी के खिलाफ ही हैं, यहाँ तक कि वे पूँजीवाद द्वारा स्थापित प्रजातन्त्र के भी खिलाफ हैं। कांग्रेसी-समाजवादी अपने प्रति आपत्तियुक्त प्रोपेगेण्डा का स्वभाव उजागर करने में असफल रहे हैं।

समाज सुधार के भारतीय प्रवक्ताओं को लोकतान्त्रिक प्लेटफार्म पर इकट्ठा होना चाहिये। लोकतान्त्रिक स्वातन्त्र्य को स्थापित करने के लिये ज़रूरी राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन को मजबूत क्रान्ति का रूप लेना चाहिये। कांग्रेसी-समाजवादी जब कहते हैं कि राजनैतिक आज़ादी से आर्थिक आज़ादी निकलनी चाहिये तब वे स्थिति को स्पष्ट रूप से समझते हैं। लेकिन आन्दोलन के आर्थिक मुद्दे राजनैतिक प्रोग्राम से जुदा नहीं कर पाते। समाजवादियों का सही भाव होगा कि वे लोकतान्त्रिक आज़ादी के प्रखर प्रवक्ता बनें। तब वे सामाजिकता के झंझटों से रोती राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग पर ज़ोर देने की भूल से बच सकेंगे। लोकतान्त्रिक आज़ादी का प्रोग्राम आन्दोलन के राजनैतिक और सामाजिक पक्षों को जोड़ता है। इस वकालत से समाजवादी अपनी सामाजिक क्रान्ति के आदर्श पर चलकर अपने भूले हुए विरोधियों को निहत्थे कर पायेंगे। दूसरी ओर बची हुई भीड़ अलोकतान्त्रिक साबित होगी। नतीजा होगा कट्टर राष्ट्रवाद कमज़ोर होगा, जो कि लोकतान्त्रिक आज़ादी प्राप्त करने की शर्त है।

अब एक समाजवादी प्रकाशन को देखें—'समाजवाद क्यों' इसके लेखक हैं—जय प्रकाश नारायण—कांग्रेस प्रेस सम्भाग के प्रमुख। भारत पारम्परिक रूप से रईसी का कायल है। उसका धर्म, समाज और संस्थान सभी की बुनियाद अधिनायकवाद और सम्पत्ति है। इसमें कुछ झूठ नहीं कि जब कभी भी भारत में लोकतन्त्र आयेगा वह ब्रिटिश लोकतन्त्र के नजदीक नहीं बल्कि जर्मनी से मेल खाता हुआ होगा।

यह लेख 'हिन्दुस्तान टाइम्स' दिल्ली अप्रेल 28, 1936 में छपा था। लेखक का भारतीय संस्कृति का स्वभाव वर्णन एकदम किताबी है। यह मनु की देन है। धर्मग्रन्थों में पारंगत लेखक समाजशास्त्र में ज्ञानहीन है। भारत पारम्परिक रूप में रईसी विचारधारा का नहीं है बल्कि इसका दुर्भाग्य है कि वह व्यवसायी और उत्पादक वर्ग, जो सामन्ती पुरोहिती भूमिधरों से मजबूत सामन्ती व्यवस्था को तोड़ फेंकने और उसके प्रति क्रान्ति कर सकता, को पैदा करने में असफल रहा है। जो समाज मूल रूप से पूँजीवादी उत्पादन पर आधारित होता है वह बुर्जुवा होता है। भारत उस स्टेज पर कभी नहीं पहुँचा, प्राचीन काल में तो कतई नहीं। प्रारम्भिक तौर पर भारतीय समाज पुरोहिती, सामन्तवादी और बुजुर्गी युक्त है। फिर भी लेखक जो उद्‌गार ज़ाहिर करना चाहता है उसमें सत्यता के अंश मौजूद हैं। शायद उन्होंने व्यर्थ की आधुनिकता का ज्ञान दिखाने की कोशिश की है और शब्दावली ग़लत इस्तेमाल की गयी है, जिसका मतलब है कि आमतौर पर भारतीय समाज वर्गवाद पर आधारित है। और जिस प्रकार के वर्गवाद से वह ग्रसित है, उसे खुलासा करके बताया है। उन्हें इसके लिये साधुवाद मिलना चाहिये कि उन्होंने उसे घुमा-फिरा कर नहीं बल्कि सीधे और तर्कसंगत ढँग से कहा है।

यह कोई स्पष्ट पत्रकार की भाषा नहीं है जो आजाद भारत के सामाजिक-राजनैतिक विकास का भयावह दृश्य उपस्थित कर अपनी आध्यात्मिक-सांस्कृतिक परम्पराओं से चिपकी रहती है। उससे कहीं आधिकारिक

बयानों में भी वही दृश्य उपस्थित होता है। गो कि उस तरह खुल्लमखुल्ला तौर पर नहीं। कुछ महीने पहले लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्रों को सम्बोधित करते हुए पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त ने बताया—उनमें से हर एक को गाँधी, टैगोर, मुसोलिनी या हिटलर और फोर्ड बनने की कोशिश करनी चाहिये। इस मिश्रित आदर्शों से पन्त जी का संकीर्ण आदर्शवाद और उनका व्यक्तिगत तथा पथभ्रष्ट चित्र नहीं झलकता है। वे मध्ययुगीन अन्धविश्वास, आध्यात्मिकता, वाक्छल, अशिष्ट समाजवाद के शिकार हैं। वास्तव में फासिज्म वह राष्ट्रवाद है जो अपना आदर्श भविष्य में प्रगति की ओर नहीं बल्कि पुरानी परम्पराओं में ढूँढ़ता है। इसलिये उसमें एक आध्यात्मिक मोह बना रहता है, जो समय-समय पर प्रभाषित होता रहता है।

गाँधी और टैगोर दोनों अपनी-अपनी तरह भारतीय संस्कृति की विशिष्ट योग्यता रखते हैं। दोनों ही पश्चिमी भौतिकवाद के कट्टर विरोधी हैं बल्कि संसार के लिये भारतीय संदेश को हर मर्ज की दवा के रूप में पेश करना चाहते हैं। गो कि विशेषज्ञ उससे इत्तिफाक नहीं रखते। एक के लिए वह आधुनिक उद्योगों को नकारना और राष्ट्रीयता का निषेधक लगा है, तो दूसरे के लिए अहिंसा साबित हुई है। गाँधी ख़ुद आधुनिक उद्योगों के खिलाफ हैं लेकिन राजनीति उन्हें उसके प्रभावों के नजदीक लायी है। दूसरी ओर भारतीय युवा जो आदर्श पसन्द कर सकते हैं वे पश्चिमी सभ्यता का अपूर्व गँवारू रूप है, जिसका गाँधी और टैगोर को निवारण करना है।

फोर्ड ने पूँजीवादी उत्पादन की औद्योगिक तकनीक उस स्तर तक विकसित कर दी है कि मनुष्य मात्र मशीनों का ग़ुलाम ही नहीं बल्कि मशीनों का पुर्जा बन कर रह गया है। उसकी मानवता यानी मजदूरों को ऊँची मजदूरी दिये जाने का जो बयान किया गया है वह पुरानी स्वार्थपरता द्वारा किया गया है। जो उस मुर्गी को मारने से समानता रखती है जो रोज़ एक सोने

का अंडा देती है। जो आधुनिक औद्योगिक तकनीक से नावाकिफ है और जो श्रम के मानव मूल्यों की ओर से मुँह मोड़े हुए है, उनके अलावा फोर्ड की तारीफ़ कोई नहीं करेगा। वास्तव में फोर्ड की प्रणाली ऐसी विकट श्रम शोषण शैली है जो पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों की भी परवाह नहीं करती। इसके अनुसार मजदूरी गुज़र बसर करने लायक ज़रूरतों के बराबर धन की क़ीमत का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। फोर्ड की उत्पादकता एक श्रम इकाई के मुकाबिले इस कदर ज्यादा है कि अनुचित लाभ लेने वाली औद्योगिक प्रक्रिया भी हार मान बैठे। इस तरह फोर्ड द्वारा दी जाने वाली ऊँची मजदूरी दूसरी जगहों पर दी जाने वाली औसत मजदूरी से क़हीं कम है।

दूसरे उनसे भी बुरे हैं। मुसोलिनी और हिटलर पूँजीवादी शोषण के सबसे विकराल रूप हैं। वे आधुनिक सभ्यता के सांस्कृतिक मूल्यों के पक्के दुश्मन हैं। वे केवल हिंसा को अमल में ही नहीं लाते हैं बल्कि वे निर्लज्जता से उसे बढ़ावा देते हैं। वे देव कहलायें तो बुरा नहीं। वे लुटेरे राष्ट्रवाद के विक्षिप्त धर्मदूत हैं, जो सुसंगत ढंग से गरीबों पर कातिलाना आक्रमण करते हैं। संक्षेप में वे सब कुछ करते हैं जो गाँधी और टैगोर द्वारा प्रचारित भारतीय संदेश के खिलाफ है। फिर भी हमारे कट्टर राष्ट्रवादी उन्हें अपना आदर्श समझते हैं। आदर्शों के असमान मिश्रण का एक वैकल्पिक स्पष्टीकरण यह भी है कि प्रचारक मुकम्मल तौर पर सामाजिक सिद्धान्तों और नैतिक निष्ठा से खाली है। वह जो कहते हैं उसमें विश्वास नहीं करते जिसके माने हैं कट्टर राष्ट्रवादी आध्यात्मिक परम्परा के लिये सिर्फ़ होठों से कुटिल नीतिपूर्ण वफादारी दिखाते हैं, जिससे सर्वहारा अधिनायकवादी और भाग्यवादी परम्पराओं से बंधा रहे और राष्ट्रीय आज़ादी की चमकती चैन से जकड़ा रहे और मुँह न खोलने पाये। अभी नहीं, जब ये लोग विदेशी गुलामी के बन्धन तोड़कर अपना राज्य स्थापित करेंगे तब।

हर हालत में इतना तो साफ़ है कि या तो कट्टर राष्ट्रवाद के आदर्श झूठे हैं या फिर हमारे राजनीतिज्ञ, जो ग़लत झंडे के नीचे चल रहे हैं, बेईमान हैं, और अविश्वसनीय हैं। भारतीय रिनेसाँ की प्रारम्भिक शक्तियाँ इस तरह दोहरे ख़तरे में फँसी हुई हैं। वैचारिक स्तर पर एक ख़तरनाक भूलभुलैयापूर्ण बनावट का पीछा कर रही हैं। और राजनीतिक स्तर पर वे उनके अधीन हैं जो ग़लत रास्ते पर लिये जा रहे हैं। दोनों ख़तरे परस्पर जुड़े हुए हैं। एक ख़तरे से दूसरा ख़तरा निकलता है। इस ग़लत विचारधारा को छोड़ें और अपने पराक्रमी पुरुषों की निगाह से देखें तभी स्पष्ट सामाजिक निर्माण को मद्देनजर रखकर स्वतन्त्रता सेनानी एक हिम्मती और ईमानदार नेतृत्व उभार सकेंगे, जो आज की सबसे बड़ी ज़रूरत है।

कट्टर राष्ट्रवादी नेता जानबूझ कर टालते हैं कि स्वराज के तहत उनका राजनैतिक संविधान क्या होगा। सामाजिक बनावट कैसी होगी, परिवर्तन कैसा होगा। इसका कोई आइडिया नहीं है। राजनैतिक हुकूमत, जो स्वराज्य के तहत बैठाई जायेगी, वह किस प्रकार की होगी यह उसकी सामाजिक विचारधारा से प्रस्फुटित होती है। कांग्रेस के नेताओं की बुजुर्गियत सामाजिक दृष्टि से लोकतान्त्रिक आज़ादी को नकारना साबित करती है।

अभी उस दिन एक आधुनिक धर्म नेता ने विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में भाषण देते हुए भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं द्वारा मान्य राजनैतिक संविधान पर अपने विचार व्यक्त किये। लोकतन्त्र की ग़लत भावना ही मौजूदा असंतोष और आपाधापी का कारण है। राजनीति, अर्थशास्त्र और आत्मा का अन्तर्द्वन्द्व समाज से तब तक समाप्त नहीं किया जा सकता जब तक उच्च शिक्षा द्वारा वह नेता, ज्ञानी, स्टेट्समैन और विधायक नहीं पैदा करता। जो बुद्धिवादी लोगों में स्वाभाविक असमानता पहचान सके और निजी स्वार्थों की अपेक्षा समाज की भलाई का ध्यान

रख सके। और ख़ुशी (हैप्पीनेस) और आनंद (प्लेजर) के बीच जटिल फ़र्क़ को समझ सके। यह थे दयालबाग के श्री साहब जी महाराज।

इस तरह कट्टर राष्ट्रवादी स्वराज आखिरकार रामराज्य की स्थापना नहीं होगा। यह एक आधुनिक ब्राह्मण राज्य होगा, एक बुद्धिवादी रईस लोगों का समूह होगा जिसके पास अपार अधिकार होंगे, जिन पर कि ख़ुद उनका पहले से एकाधिकार है। क्योंकि आम आदमी उस योग्यता से सदा वंचित रखा गया है। यह उस स्वाभाविक असमानता का तर्कपूर्ण नतीजा है। हिन्दू दर्शन की महत्ता उस सिद्धान्त में निहित है जो मुकम्मल तौर पर इस सिद्धान्त के विपरीत है। यह भी कहा जाता है कि एक ही आत्म-अग्नि सभी में प्रज्वलित है। इस प्रकार सभी प्राणी एक समान हैं। और यह समानता देखी और समझी जा सकती है। और हमें यह बताया गया है कि यह एक आध्यात्मिक समानता पृथ्वी पर भौतिक समानता में नहीं देखी जा सकती। कुछ लोग दूसरों की बनिस्बत शायद ईश्वर द्वारा उच्च बनाये जाते हैं इसलिये दैवी शक्ति के कारण वही राज्य करने के अधिकारी हैं।

यह ख़याल किसी एक व्यक्ति का नहीं है। यह एक आध्यात्मिक शक्ति है। 'श्री कृष्ण ने ख़ुद असमानता का सिद्धान्त गीता में निरूपित किया है जो कि कट्टर राष्ट्रवाद की बाइबिल है। साफ है इसी पुस्तक के आधार पर 'स्वराज की योजना' स्व. आ. सी. दास ने आधुनिक ऋषि डॉ. भगवानदास के सहयोग से तैयार की है। एक साल बाद, वही सिद्धान्त फिर हिन्दू ग्रन्थों के एक प्रवक्ता ने दूसरे विश्वविद्यालय के छात्रों के समक्ष रखा—समानता और स्वतन्त्रता के बारे में भारतीय युवाओं द्वारा बहुत अपचनीय बातें हो चुकी हैं। अब उन्हें समाज में और अराजकता नहीं पैदा करनी चाहिये। बिलकुल सादी स्लेट पर लिखना और भूत को एकदम मिटा देना तत्पश्चात् नवनिर्माण करना, भारतीय मानस के प्रतिकूल है। यह अन्तिम असफलता की ओर ले जायेगी। निष्काम योग

से प्रेरित, अनुशासित और शिक्षित होकर, जैसा कि गीता में बताया गया है, दुनिया की समस्याओं का निदान किया जा सकता है।' (महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री, मद्रास विश्वविद्यालय 1936)।

मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य एक समान पैदा होते हैं या कभी समय आएगा जब पूरी मानवता बौद्धिक स्तर पर समान हो जायेगी। गो कि दूसरी ओर जैविक शास्त्र दावा करते हैं कि बीमारों को छोड़कर हर मानव शरीर उचित दिशा मिलने पर असीमित इच्छा शक्ति और योग्यता विकसित कर सकता है। विकास की निहित सम्भावनाओं को खोलना तब तक रुका रहेगा, जब तक उच्च शिक्षा का आशीर्वाद कुछ चुने हुए लोगों के जीवन में परिवर्तन लाना बना रहेगा। इन सम्भावनाओं को खोलने की प्रक्रिया तुरन्त ही फल नहीं देने लगेगी। बुद्धिवादी वर्ग तथा अपढ़ गूंगी भीड़ के बीच की सीमारेखा तभी मिट पाएगी जब इस परिवर्तित वातावरण में कई पुश्तें पैदा होकर मिट जायेंगी। वास्तव में यूरोप के तमाम विकसित देशों में, धन्य है शिक्षा-प्रसार, और नवसांस्कृतिक प्रगति, अब लोगों के बीच उक्त सीमारेखा मिट गयी है। वहाँ पर नेता, विधायक, राजनीतिज्ञ और चिन्तक समाज के सभी वर्गों से आते हैं और कोई नहीं कह सकता कि जो निम्न श्रेणी से उठे हैं वे किसी तरह बुद्धिवादी वर्ग से कम हैं। मौजूदा असंतोष और अराजकता लोकतन्त्र की भावना की पैदाइश नहीं है बल्कि उसके स्वतन्त्र विकास के ऊपर लगे बन्धनों की देन है।

लेकिन भारतीय आध्यात्मिक दर्शन जो अब तक पंथ निरपेक्ष रईसी के साथ गठबन्धन किये जा रहा है, बौद्धिक रईसी की ओर लौटने की सिफारिश करता है। यह गठबन्धन केवल भारत की पवित्र भूमि पर ही नहीं पनपा पवित्र रोमन साम्राज्य जिसने यूरोप पर एक हजार वर्षों तक राज्य किया, भी इसी क़िस्म का गठबन्धन था, जिसमें सदा आध्यात्मिक और बौद्धिक रईसों का कहा चलता था। इसी तरह प्राचीन भारत में

ब्राह्मण सामाजिक स्तर पर समृद्ध क्षत्रियों के साथ गठबन्धन करके राज्य करते थे। मध्य युग में क्या भारत, क्या यूरोप, सब जगह राजतन्त्र व्यक्तिगत सम्पत्ति और पराश्रयी अर्थ व्यवस्था पर आधारित था। मजदूरों के शोषण की इतनी बुरी व्यवस्था थी कि किसी क़िस्म की संस्कृति का पनपना असम्भव था। उनकी मानवीय सभ्यता, उनकी पोटेन्शियलिटी को विकसित करने का कोई अवसर नहीं था। और सर्वहारा को कुदरती तौर पर असमान बनाया जाता था फिर भी वे सब के सब ईश्वर के बन्दे कहलाते थे। ऐसा है धार्मिक विचारधारा का मिथ्या चरित्र, जिसमें दुनिया की हर बुराई को सुधारने की सर्वरोगहर औषधि के रूप में ठगाई की जाती है और यह ठगविद्या पुरोहितों और रईसों के प्रतिक्रियावाद स्वरूप सारे संसार में फैलायी गयी। एक चीज़ जो सामन्ती रईसी के विचारक रूप में बुद्धिवादी कर सकते हैं वह है सुख और आनन्द (हैप्पीनेस एण्ड प्लेजर) का अर्थ मासेज को समझाना यानी आनन्द की बनिस्बत सुख को प्रश्रय देना चाहिये। यहाँ पर हम संक्षेप में अध्यात्मवाद का कर्त्तव्य समझ सकते हैं। एक बुद्धिवादी, जो बीसवीं सदी में भी दैवी अधिकार द्वारा सत्ता क़ायम करने का दावा करता है, यह फ़र्क़ समझने में सफल हुआ है और उसके श्रोता इस जटिलता को भाँपने में असफल रहे हैं। देखें साहब जी का आगरा विश्वविद्यालय का दीक्षान्त भाषण—'तुम मात्र विज्ञान का आदर्श-भाववाचक बुद्धिवाद (ऐबस्ट्रेक्ट इन्टेलीजिबिलिटी) से अपना जीवन सुखी नहीं बना सकते। तुम्हें मनुष्य की अन्तःकरण की भूख और ऊँची आकाँक्षाओं की पूर्ति के लिये धर्म का सहारा लेना ही होगा।' वक्ता बेशक कट्टरवाद और प्रतिक्रियावादी विचारों का पोषक है। मगर जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि वे विचार एक आधुनिक विश्वविद्यालय में प्रचारित किये गये जिन्हें हजारों शिक्षित छात्रों ने सुना और किसी ने कोई एतराज नहीं किया।

बौद्धिक उच्चता की घोषणा राजनैतिक शक्ति और असामाजिक नेतृत्व की योग्यता मानी जाती है। फिर भी उस युग की ललक को हतोत्साहित

किया जाता है। कारण, अगर अधिकाधिक लोग उसके लिये लालायित होंगे तो चुने हुए लोगों का एकाधिकार ख़तरे में पड़ जायेगा।

भावनात्मक बुद्धिवाद (ऐब्सट्रेक्ट इन्टैलीजिबिलिटी) यानी वैज्ञानिक ज्ञान का अवमूल्यन इसलिये किया जाता है कि वह जाँच से परे ईश्वर इच्छा सम्बन्धी धार्मिक भाव में दखलन्दाजी करता है, जिसने कि मनुष्य मात्र को कुदरती तौर पर असमान बना रखा है। कुछ में राज्य करने के गुण पैदा किये गये हैं और बाक़ी को उनके द्वारा निर्धारित नियमों को पालन करने के लिये बाध्य किया गया है। सो ज्यादा जानकारी करने की ज़रूरत नहीं है। उससे तुम्हें जीवन के पारम्परिक मूल्यों के बारे में दुविधा पैदा होगी। जो विज्ञान के भण्डार से दाने चुगेगा वह आस्था के स्वर्ग से बाहर ही खदेड़ दिया जायेगा। अज्ञान ही आनन्द है। चूँकि मूढ़ता ही मानव जीवन का आदर्श है। इसलिये ज्ञान का हमेशा अवमूल्यन ही उत्तम है। लेकिन कोई पूछ सकता है कि अगर वैज्ञानिक शिक्षा को नकारना ही है तो उच्च शिक्षा है क्या?

हमें बताया गया है कि वह धार्मिक भावना पैदा होती है, जो ज्ञान को आस्था से नीचे सतह पर रखती है। अगर दैविकता में आस्था ही शिक्षा का मापदण्ड है तो फिर यह तर्कसम्मत है कि जितनी गहरी आस्था होगी उतनी ऊँची शिक्षा होगी। और भारतीय सर्वहारा (मासेज) इस मानदण्ड के हिसाब से उच्चतम शिक्षा प्राप्त समाज है। फिर बुद्धिवादियों की कुदरती कुलीनता कहाँ रह गयी? केवल एक गुण है जो बुद्धिवादियों को आस्थावान सर्वहारा से जुदा करता है। वह है आस्था को बौद्धिक बनाने की योग्यता। यानी अनैतिक सामाजिक सम्बन्ध जो सर्वहारा के अन्धविश्वास को पक्का करते हैं, उन्हें उचित बतलाना। यह अन्तर उन लोगों को तब तक राज्य करने की छूट देगा जब तक मानव पहुँच के बाहर के (मेटाफिजिकल) सिद्धान्तों द्वारा उन्हें नैतिक व्यवहार के लिये राजी रखा जायेगा।

इस प्रकार सत्ताधारी वर्ग ईश्वर के नाम पर लोगों को धोखा देने के लिए 'शिक्षा' की ट्रिक अपनाता है। इस प्रकार जो शक्ति और सामाजिक नेतृत्व के लिए लालायित हैं उनका कर्तव्य है कि नंगी-भूखी भीड़ पर ढेले फेंकते रहें और उन पत्थरों को शिवलिंग या शालिग्राम बताकर बहकाते रहें। धर्म का काम है लोगों को बताये कि उन्हें दुनियावी चीज़ों का कम से कम उपयोग करना चाहिए जिससे उनके श्रम से उत्पन्न अधिकाधिक माल कुछ गिने चुने लोगों को प्राप्त होता रहे। दुनियावी चीज़ों के उपयोग से प्राप्त आनन्द (प्लेजर) उठाने का अधिकार केवल सत्ताधारी को है। आम आदमी को मात्र 'सुख' (हैप्पीनैस) की अनुभूति तक महदूद रहना चाहिए, जो उनकी श्रम शक्ति व भूखे रहने की योग्यता से पैदा होती है। खानदानी रईसों की सरकार लोकतन्त्र से ही अच्छी है, क्योंकि उसमें यह शिक्षा देने के गुण मौजूद होते हैं, कि भूखे मर कर आदमी ज्यादा सुखी रहता है, बनिस्बत पेट भर जीने के।

हमें उपदेश दिये जाते हैं कि 'तुम्हारी आधुनिक शिक्षा आदमी को चतुर बना सकती है न कि सुखी। तुम्हारे आधुनिक लोकतान्त्रिक अधिकार शक्ति दे सकते हैं न कि संयम। जितना ज्यादा तुम दुनियावी वस्तुओं को इकट्ठा करोगे, उतना ही ज्यादा उनके प्रति तुम्हारी इच्छा बलवती होगी।' ज़ाहिर है कि दुनिया का हर आदमी घोड़े, हाथी, मोटर कार नहीं रख सकता है। न ही हर कोई करोड़पति बन सकता है। चूँकि 'आनन्दहीन सुख' का सिद्धान्त केवल अज्ञान का वातावरण और बौद्धिक वासना पैदा करता है, इसलिए आधुनिक शिक्षा को प्लेग की भाँति दूर रखने को कहा गया है। लोगों को चतुर बनाना भी क्या अपराध है? जिस समाज में वैज्ञानिक ज्ञान का आदर्श उपेक्षित हो, जहाँ दुष्टता से चालाकी को बढ़ावा देने का भाव हो, वहाँ बुद्धिवादी वर्ग को कोई स्थान नहीं।

मगर जब अधिकाधिक लोग मूढ़ता छोड़ने को बाध्य होंगे और चीज़ों को बुद्धि से समझने की योग्यता विकसित करेंगे और पूज्य आदर्शों को निष्पक्ष

होकर देखना शुरू करेंगे। तो समर्पण से प्राप्त 'सुख' का आध्यात्मिक मूल्य दुविधापूर्ण दिखने लगेगा। चतुर लोग भूखों मरकर न सुखी रह सकते हैं और न मामूली ज़रूरतों को पूरी किये बिना जी सकते हैं। बुद्धिवादी रईसों के शासन में अध्यात्मवाद और अन्धविश्वासजनित अमानवीय कृत्य और मुँहबन्द जानवर ही उपयुक्त होंगे। आधुनिक शिक्षा चिन्तन में क्रान्ति लाती है और वह समर्पण भाव में विघ्न डालती है जो आनंदहीन सुख का आधार है।

घोड़ा, मोटर और अन्य दुनियावी चीज़ों का रखना बुरी बात नहीं है। न करोड़पति होना पाप है। यह भौतिकवाद है जो बुरा है। जब मोटर बनाने वाले उसमें बैठना चाहते हैं, जब मकान बनाने वाले उसमें आराम से रहना चाहते हैं, तब बुरा हो जाता है। इसी को लोअर एपीटाइट या अन्तःभूख कहते हैं। आम आदमी का पेट क़ीमती भोजन हजम नहीं कर सकता, जो कि आराम कर रहे कुछ गिने-चुने लोगों के लिये रिजर्व है। नियति का यह बँटवारा कैसा है!

यह कैसे सही हो सकता है कि हर कोई घोड़ा या कार नहीं रख सकता। पूरी जनसंख्या पराश्रयी नहीं है। लेकिन इसमें क्या दिक्कत है कि समाज का हर व्यक्ति सभ्य समाज की सुविधाओं के साथ जी सके। आधुनिक लोकतान्त्रिक शक्तियाँ सर्वहारा को उन्हीं हथियारों से लैस करती है जिससे वे सभ्य समाज की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिये संघर्षरत रह सके। क्या कभी भारतीय जन ऐसे हथियार पा सकेंगे? वे देर-सवेर शक्ति सम्पन्न होकर धर्म द्वारा लगाये गये बन्धनों—(गुलामी का दस्तावेज धर्मग्रन्थ) जिस पर ईश्वर की मोहर लगी हुई है, को तोड़ सकेंगे? वे सादा जीवन इसलिये जीते हैं क्योंकि उन्हें जबरिया ऐसा जीवन जीने को कहा जाता है। उन्हें इस पृथ्वी पर उम्दा और खुशहाल जीवन जीने की छूट देकर देखें। वे उसमें किसी से पीछे नहीं रहेंगे। लेकिन उसके माने होंगे बुर्जुवा—पारम्परिक अधिकारों का अतिक्रमण।

इसलिये भारतीय आध्यात्मिक राजनीति में लोकतान्त्रिक आज़ादी का कोई स्थान नहीं है। लोकतान्त्रिक अधिकारों की यह कह कर भर्त्सना की जाती है कि वे त्याग की जन्मजात भावना को ख़तम कर देते हैं।

प्रतिक्रियावादी दर्शन में पुरातन के लिये वफादारी, पराश्रयी व्यवस्था, भ्रष्ट सामाजिक संस्थानों और अलोकतान्त्रिक भावनाओं के प्रति वफादारी राष्ट्रवादी नेता को वहाँ पहुँचा देते हैं, जहाँ वे तरह-तरह के लोगों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हैं। और समझाया यों जाता है कि 'हम यथास्थिति को ज़रा भी छेड़े बिना किसी भी राजनैतिक पार्टी के साथ संयुक्त तालमेल कर सकते हैं। इससे कोई भी मना नहीं करेगा कि सर्वहारा की खुशहाली और सकून हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। लेकिन यह सदियों पुरानी संस्थाओं को उखाड़कर और भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के विरुद्ध जाकर कभी पूरा नहीं होगा।' ये शब्द हैं सर कावंस जी जहाँगीर के, जो बाम्बे लिबरल फैडरेशन के अध्यक्ष थे। इस नवाबी संगठन ने पश्चिमी भौतिकवाद, जो कि भारत की पवित्र भूमि को अपवित्र कर रहा है, को मानते हुए भी आनन्दहीन सुख के आध्यात्मिक मूल्य को पसन्द किया। वह प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं का भी पोषक है। गो कि जाती तौर पर वह किसी देवी-देवता को नहीं मानता, लेकिन वह उनकी पूजा को प्रोत्साहन देता है। क्योंकि उससे सर्वहारा को सुखी और संतुष्ट रखने में मदद मिलती है। भुखमरी लायक मजदूरी और बम्बई की झोपड़पट्टियाँ उस व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिन्हें डिस्टर्ब नहीं होना चाहिये। इसके साथ ही संगठन मानवतावादी आदर्श को मानने को वैसे ही तैयार है जैसे कोई अन्य व्यक्ति।

समाजवादी और साम्यवादी भूत का डर, यथास्थिति में आमूल परिवर्तन करने की बढ़ती चेतना को दबाने के उद्देश्य से करवाया जाता है। यह चेतना न केवल राजनैतिक बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी आ सकती है। ऐतिहासिक तौर पर यह वांछित बदलाव हमेशा लोकतान्त्रिक क्रान्ति

द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद की समाजवाद से शत्रुता असल में लोकतान्त्रिक आज़ादी के प्रति शत्रुता है। जब आप क्रान्तिकारी परिवर्तन का विरोध करते हो, बल्कि आप अपने को उन विशिष्ट परिवर्तनों के विरुद्ध पाते हो जो समय की पुकार होती है।

पारम्परिक विशिष्टता के पवित्र संस्थानों के खिलाफ बनावटी जेहाद कपट-लोकतान्त्रिक घोषणा द्वारा मान्य साबित किया जाता है कि राज्य के संविधान और सामाजिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी सवाल नहीं उठाये जा सकते। वे भी आज़ादी मिलने पर जनता द्वारा स्वयं तैयार किये जायेंगे। कोई भी राजनैतिक दल जो अपना धन्धा जानता है इतना खुले दिमाग़ का नहीं हो सकता। अगर वह वफादार है तो यह उसके दिमाग़ का खुलापन नहीं बल्कि खालीपन है, जो अतीव दयनीय है। जनता को शून्य में नहीं दौड़ाया जा सकता। एक उद्देश्य का होना अनिवार्य है और जनता को जानना चाहिये कि वह कहाँ जा रही है। एक उद्देश्यहीन आन्दोलन में मूल प्रश्न पर विचार-परिचर्चा समाप्त हो जाती है या टाल दी जाती है। तब नेताओं की सोच और विचारधारा जनता के अवचेतन में बसे संघर्ष के खिलाफ काम करती है। ऐसी हालत में अधम, कुटिलता ही प्रचार का सर्वोच्च सिद्धान्त बन जाती है और आन्दोलन भीड़-भड़क्का में बदल जाता है। लोग अपने नेताओं द्वारा धोखे में रखे जाते हैं। सर्वहारा को बताया जाता है कि पार्टी उनकी मदद करने को आमादा है। लेकिन उसी के साथ यह कोई नहीं बताता कि उनकी दशा कैसे सुधरेगी। आप चमत्कार में विश्वास करके जनता की उम्मीदों को ऊँचा उठा सकते हैं। पुनर्निर्माण की चर्चा स्वार्थी लोगों में डर का रूप भर देती है और एकता छिन्न-भिन्न होने लगती है जिसे फिलहाल धुंध में छिपाये रखा जाता है। मगर कोहरे की पट्टी को भेदकर भीतर देख पाना कोई कठिन काम नहीं है। अगर स्वार्थी लोगों को न डराना, स्वराज्य प्राप्ति की पूर्व शर्त है तो फिर लक्ष्य को उन स्वार्थी लोगों के पास पहले से ही गिरवी रख दिया गया है—यह माना जायेगा।

जब यह तय है कि कांग्रेस किसी सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रोग्राम के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ नहीं है, तो उसके लीडर भी इस राज को कि उनके पास देश के भविष्य के लिये कोई सामाजिक, राजनैतिक विचारधारा नहीं है, छिपाते नहीं। अभी उसी दिन सरदार वल्लभभाई पटेल ने गर्जना की कि कांग्रेस में किसी भी समाजवाद, साम्यवाद या अन्यवाद का काम नहीं है। यह अविश्वसनीय है कि ऐसा बेवकूफी भरा बयान ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया गया जो इतना बड़ा पार्टी लीडर है। और अगर उनके बयान का कोई मतलब है तो यह कि कांग्रेस के पास कोई सिद्धान्त नहीं। लेकिन यह सत्य नहीं है कि कांग्रेस एक बहुत ही सुनिश्चित पंथ नहीं है। पटेल का मतलब है कि जब तक उनके साथी लोग पावर में हैं कांग्रेस कोई ऐसा क्रान्तिकारी सिद्धान्त मंजूर नहीं कर सकती जिससे सामाजिक पुनर्निर्माण की बू आती हो।

गाँधीवाद भी एक वाद है। कांग्रेस के मौजूदा लीडर्स उसे त्याग नहीं सकते। जब समाजवाद की खिलाफत की जाती है, तो वे बुर्जुवा लोकतान्त्रिक क्रान्ति के प्रोग्राम की वकालत करने में असफल होते हैं। इस तरह स्वराज्य के तहत भारत जो संविधान बनायेगा वह सब संसदीय लोकतन्त्र से कहीं अधिक पिछड़ा हुआ होगा। सामाजिक तौर पर वह सम्पत्ति के सम्बन्ध पूर्ववत् रखेगा जो देश की अर्थ व्यवस्था को आधुनिक बनाने तथा प्रगति और सम्पन्नता के लिये ज़रूरी है और जिसका लोकतान्त्रिक क्रान्ति द्वारा खात्मा ज़रूरी है। स्वराज एक मृत-सागर का फल होगा। एक फिजूल का राजनैतिक परिवर्तन, जिसमें समाज की अर्थव्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहेगी। जो कि ग़रीबी, भुखमरी, दुखी, अज्ञानी, सर्वहारा की तनज्जुली को क़ायम रखने का जिम्मेदार होगा। परिदृश्य और भी ज्यादा अशुभ है। यह सम्भावना है कि इस प्रकार का स्वराज्य फासिस्ट डिक्टेटरशिप में न बदल जाये। गैरिक जामा पहन कर कट्टर राष्ट्रवादी स्वराज्य के बजाय हिटलर राज्य न बन जाये।

एक जाना-पहचाना परन्तु क्रान्तिकारी सवाल फिर भी रह जाता है, वह है—भारत में यूरोपीय सामाजिक राजनैतिक विकास की पद्धति क्यों अपनायी जानी चाहिये ? सवाल में कुछ दम हो सकता था, यदि वे राष्ट्रवाद के खिलाफ कोई ऐसा सम्भव विकासवादी विकल्प, बेशक अपनी भूतकालीन कीर्ति को छोड़ कर, दे सकने में समर्थ होते। पेचीदगी क्रमिक विकास का विकल्प नहीं बन सकती। प्रतिक्रियावादी और प्रगति एक चीज़ नहीं हो सकती। सवाल बिलकुल आधारहीन है कि भारतीय गूढ़ और विशिष्ट ज्ञान उस नये सामाजिक विकास के आयाम के पैदा करने में सक्षम होगा जो इतिहास के सभी मान्य नियमों को उखाड़ फेंकेगा। चूंकि जीवन की आध्यात्मिकता भारत की विशिष्टता है, इसलिये उसे मध्य युग के गन्दे कीचड़ को जोतना लाजिमी है। इसी आध्यात्मिक विशिष्टता के अन्धविश्वास में भारतीय राष्ट्रवाद को खुलासा सोचने की शक्ति से वंचित रखा है।

सर राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन के मान्य प्रवक्ता हैं। वे उसके प्रशंसक हैं आलोचक नहीं। 1936 में मद्रास में बोलते हुए उन्होंने मंजूर किया कि हमने संसार को आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में कोई विशेष योगदान नहीं दिया, लेकिन हमारा मुख्य योगदान दर्शन और धर्म के क्षेत्र में रहा है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस क्षेत्र में हमारा एकाधिकार रहा है। मैंने देखा है कि दुनिया के इतिहास में पूर्व और पश्चिम के बीच कोई वास्तविक मुकाबला नहीं रहा है। ऐसा अभी हाल में ही हुआ है। पश्चिम में ज्ञान, मानव-प्रेम, बुद्धिवाद और पूर्व के अध्यात्मवाद के नाम पर अलगाव किया गया है। बुद्धिवाद, ज्ञानार्जन और मानवाधिकार— यह सब आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की कुंजी है। आवश्यक परिवर्तन के साथ इन सबका निरस्तीकरण ही भारत का विशिष्ट ज्ञान है। पश्चिमी सभ्यता भी पहले अध्यात्मवादी थी। राधाकृष्णन् ने ख़ुद कहा है— 'रहस्यात्मक 'कुछ' अब पश्चिम में मान्य नहीं है, जब कि मध्य युग में उसे बराबर मान्यता प्राप्त थी।'

यह बयान ऐतिहासिक वास्तविकताओं से परिपूर्ण है। इसके माने हैं—अध्यात्मवाद मध्ययुगीन समाज की फिलासफी है और भारत को मध्य युग की सड़ांध से निकलने का कोई रास्ता नहीं है। इसलिये यह पूछना कि भारत को यूरोप के सामाजिक, राजनैतिक उत्थान का रास्ता क्यों अपनाना चाहिये, यह पूछना है कि भारत को मध्य युग के अन्धकार से बाहर क्यों निकलना चाहिये और भारतीय लोगों को अज्ञान से वंचित क्यों किया जाना चाहिये? सवाल में सन्निहित तथ्य है कि बुद्धिरहित, ज्ञानरहित और मानव अधिकारविहीन भारत को अपने में परम सन्तुष्ट रहना चाहिये।

जो लोग भविष्य पर विजय पाना चाहते हैं उन्हें भूत से अपना मुँह मोड़ना होगा। लकवा मार पारम्परिक जकड़ से पिण्ड छुड़ाना होगा। हमारी पुरानी संस्कृति की साँस है धर्म। अध्यात्मवाद वह विश्वास है जिसकी जाँच नहीं हो सकती। उसका केवल आज्ञापालन किया जा सकता है। यह वैश्विक चरम तत्त्व खोजने की हेतु विधा है। हर चीज़ ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित है, यानी हर घटना पूर्व नियोजित होती है। इस प्रकार धार्मिक भावना, जो भारतीय संस्कृति की जान है, स्वाभाविक रूप में किसी भी मनुष्य प्रेरित परिवर्तन के खिलाफ है। धार्मिकता के चोगे में भाग्यवाद भारत के लिये बहुत ही नुकसानदेह हो चुका है। धर्म में सुधार लाने का प्रोग्राम कभी नहीं हो सकता। धर्म की शक्ति नित्यता के दावे में निहित है। हिन्दू धर्म ख़ास कर कोई सुधार मंजूर नहीं करता। यह सनातन धर्म है—अनादि, अपरिवर्तनीय, अभ्रान्त। सुधारक अपने को और अपने अनुयायियों दोनों को धोखा देते हैं। वे सभी सामाजिक परिवर्तनों के खिलाफ हैं। कट्टर धर्मवादी, आध्यात्मिक और बुद्धिवादी झूठ को छिपे हुए सत्य के रूप में बताते हैं।

1936 में गुज़राती सनातनी काँफ्रेंस में घोषणा की गयी थी कि समाजवाद शर्तिया तौर पर हिन्दू धर्मग्रन्थों के खिलाफ है और उसका बढ़ना हर

क़ीमत पर रोकना चाहिए। काँफ़्रेंस के अध्यक्ष ने निम्न उद्‌गार प्रकट किये—देश में शान्ति व्यवस्था क़ायम रखने के लिये राजा का पद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पूँजीवाद भारत के लिये बहुत ही उपयुक्त विधा है और उसका विनाश करने वाले सभी प्रयत्नों को विफल करना चाहिये।

अहमदाबाद के मिल मालिक और गुज़रात के वस्त्र विक्रेता उद्योगपति आमतौर पर सनातनी हैं और हर हालत में पक्के धार्मिक हैं और मारवाड़ी व्यवसाइयों से कहीं ज्यादा भक्त हैं। ऊपर की घोषणा को मात्र एक सनातनी की आत्माभिव्यक्ति कह कर टाला नहीं जा सकता। यहाँ पूर्व उद्धृत कांग्रेसी लीडरों की घोषणाओं की अक्षरशः पुनरावृत्ति दीखती है। वास्तव में कांग्रेसी लीडर सनातनी विचारों के प्रतिबिम्ब हैं। वे केवल उनकी मूर्खतापूर्ण अन्धविश्वासी भावना की टीका करके उसे चमकदार बना देते हैं जिससे आधुनिक शिक्षा, ज्ञान से मेल बैठाया जा सके। लेकिन जहाँ तक सामाजिक झमेलों का ताल्लुक है वे अपने को सनातनियों से अलग नहीं रखते।

भारतीय भूतकाल के और भी तमाम आलोचक हैं जो उस भूत से छुटकारा पाने के पक्ष में मत रखते हैं। गो कि वे किसी क्रान्तिकारी गुट में शामिल नहीं कहे जा सकते। श्री हरिसिंह गौड़ पर समाजवादी होने का मामूली तौर पर लाँछन नहीं लगाया जा सकता, दूसरी ओर उनकी देशभक्ति पर ज़रा भी शक नहीं किया जा सकता। इसके अलावा वे अथाह ज्ञान के धनी और हिन्दू क़ानून के प्रामाणिक प्रवक्ता हैं। उनके विचार ध्यान से सुनने योग्य हैं।

हम अब और अधिक पुरानी परम्पराओं की रोटी खाकर ज़िन्दा नहीं रह सकते। हमें अब प्राचीन को महज इसलिये ग्रहण नहीं करना है कि वह प्राचीन है बल्कि बुद्धि और विवेक से उसकी चीर-फाड़ करनी है। प्राचीन की प्रामाणिकता के लिये हमारे दिल में कोई जगह नहीं होनी चाहिये

जिसने पूरे इतिहास को हमारे ही ख़ून से रंगा है। भारत को चाहिये कि रिनेसां-सामाजिक पुनर्निर्माण जिसके पीछे पारम्परिक आस्था और विश्वास जुड़े हुए हैं, के प्रति एक क्रान्तिकारी मनोभाव भरे। भारत को चाहिये कि अपने अन्धविश्वासों की सबसे ख़तरनाक मूर्ति का भंजन और विनाश करे। हमारे पूर्वज आदिवासी और प्रकृत जीवन के आदी थे। उनकी ज़रूरतें सीधी-सादी थीं। उनका जीवन संघर्षों से पूर्ण था। उनका वातावरण बहुत सीमित था। वह जीवन पुनः जीने की हममें लालसा हो सकती है, पर हम अपने पूर्वजों की जीवन शैली अख्तियार नहीं कर सकते क्योंकि हम मशीनों के शोरगुल में जहाँ तैयारशुदा माल के अम्बार लगे हुए हैं, जिनके मुकाबिले में हाथ का सामान रफ और अलाभकर है—में पैदा हुए हैं। आज दलितों की ज़िन्दगी सुधारने के लिये, कुछ अनुपयुक्त प्रयत्न किये जा रहे हैं। लेकिन जब तक हिन्दू पद्धति जातिवाद के बन्धन से जकड़ी हुई है, उसमें कुछ भी प्रगति नहीं हो सकती। कुछ अपने को काबिल समझने वाले भारतीय अपने प्रतिक्रियावादी चलन से यह कह कर संतुष्ट हो जाते हैं कि हम लोगों ने पश्चिम के भौतिकवाद से सदा नफरत की है। उनका कहना है कि उनकी ताकत उनके अध्यात्मवाद में निहित है। मगर क्या यह अर्थहीन मुहावरा नहीं है? आध्यात्मिक उत्थान के लिये भारत ने अपने लिये क्या किया और दुनिया को क्या दिया है? हमने बौद्ध धर्म को, एक महान् आध्यात्मिक शक्ति जो हम लोगों के बीच पनपी थी, निकाल बाहर किया। हम पश्चिम के भौतिकवाद से नफरत करते हैं और उनके फैक्ट्री-जीवन का कूड़े-कचरे से मुकाबिला करते हैं। हमें वास्तविकता का सम्मान करना चाहिये। तथाकथित पश्चिमी भौतिकवाद ने मानव जीवन में सुख का संचार किया और मानव की तकलीफों को कम किया। जो बीमारियाँ पूर्वी देशों की आबादी का $\frac{1}{10}$ भाग कम कर देती थीं, पश्चिमी विज्ञान के मलहम ने उनकी जीवन रक्षा की है। (हिन्दुस्तान रिबिड फरवरी 1936)।

ये कुछ पंक्तियाँ उस शख़्स की हैं जिसकी इस विषय में गहरी पैठ है और गाँधीवाद की प्रशंसा करने वाले तमाम वक्तव्यों से, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रगतिशील लोगों को भी बुरी तरह से वश में किये हुए हैं, कहीं अधिक तर्कपूर्ण है। जब तक शिक्षित युवा पीढ़ी विवेकानन्द, सदानन्द और अरविन्द के आध्यात्मिक संदेश की ओर आकर्षित बनी रहेगी तब तक भारत कतई अपनी राजनैतिक दासता, आर्थिक क्लेश, सामाजिक पिछड़ेपन और बौद्धिक शिथिलता को दूर नहीं कर सकता। सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना समय की सबसे बड़ी और तात्कालिक बौद्धिक आवश्यकता है और उसे उत्साहित करने की ज़रूरत है। जो इस कोशिश में रत हैं, उन्हें सस्ती लोकप्रियता नहीं मिलनी है। लेकिन उनके प्रयत्न भारत की आज़ादी के लिये, बनिस्बत राजनैतिक नाटक के, बहुत बड़ा योगदान होंगे।

अन्त में एक बहुत ही तकलीफ़देह कथन, जो हमारी प्रिय आध्यात्मिक परम्परा के बिलकुल विरुद्ध पड़ेगा, का जिक्र करूँगा। वह है आन्ध्र विश्वविद्यालय के छात्रों की विदाई के समय दिया गया डा. राधाकृष्णन् का भाषण। भारतीय समाज की बहुत-सी मूल बुराइयाँ दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों में ढूँढ़ी जा सकती हैं। यानी गैर जिम्मेदाराना तौर पर एकत्र सम्पत्ति और धार्मिक कट्टरता। आर्थिक नाइंसाफी केवल हमारे देश की विशेषता नहीं है, पर धार्मिक मतान्धता जो हमारे लाखों देशवासियों को शर्मनाक और अमानवीय ढँग से पीड़ित किये हुए है, जो नारीत्व पर फिजूल का कलंक और तकलीफें थोपता है वह ख़तरे की घंटी है। यह अन्धविश्वासों के रूप में आत्मा को भ्रष्ट करना है। जो लोग दूसरे मनुष्यों पर ये अयोग्यताएँ थोपते हैं वे ख़ुद अज्ञान और अन्धविश्वास के शिकार हैं। यह मकबूल विचारधारा की सत्यानाशी करना है। उनमें से तमाम को फिर भी बरकरार रखा गया है जबकि जीवन में उनका कोई उपयोग नहीं है। हमें अपने निर्दयी और अन्यायी भूतकाल से हर हालत में छुटकारा पाना

है। हम भूत-प्रेत, पिशाचों के उत्पीड़न, झूठ, भ्रम और फरेब से छुटकारा पायें। धर्म द्वारा पोषित सामाजिक विषमताओं ने लाखों लोगों का जीवन अर्थहीन बना दिया है। अगर वे ऐसे धर्म को सुविधा रूप में छोड़ दें तो उन्हें माफ किया जा सकता है। लेकिन वे ऐसा नहीं कर सकते। वक्ता ने बहुत ही दर्द भरी अपील की है—'हमें हर क़ीमत पर आर्थिक और धार्मिक निर्दयता का सामना करना चाहिये और हर देशभक्त का कर्त्तव्य है कि वह इसका मुकाबला करे और अपने देश के हर क्षेत्र में स्वेच्छाचारिता और अत्याचार का विरोध करे।' इस कथन को एक क्रान्तिकारी के मुख से निकली विनाशकारी डींग कहकर टाला नहीं जा सकता, न उसे समाजवादी प्रचार की ग़ैर जिम्मेदाराना बात कह कर टाला जा सकता है। यह एक महान् चिंतक का मत है। जब आध्यात्मिक दर्शन का सम्पूर्ण समर्थक मानवतावादी भावनाओं में बहकर अपने ही दर्शन द्वारा उत्पन्न व्यावहारिक ख़ामियों के प्रति इतना रोष प्रकट करे तब उसमें कतई शक नहीं रह जाता कि हमारी पद्धति में कुछ आमूल कमियाँ हैं। कुछ दिनों के बाद मद्रास में डा. राधाकृष्णन् ने फिर हिन्दू समाज के वज़ाहिर कारनामों के प्रति अपना क्रोध प्रकट किया। उनके द्वारा बुराइयों की भर्त्सना हमारे सामाजिक वातावरण की देन है। उन्हें केवल ठोस सामाजिक और वैचारिक क्रान्ति से मिटाया जा सकता है। पारम्परिक विचारों को छोड़ना होगा। अन्धविश्वासों को आलोचनाओं का विषय बनाना होगा। युगाधियों से चले आ रहे रिवाजों को निर्दयता से ख़त्म करना होगा। कट्टर राष्ट्रवाद के प्रतिक्रियावादी दर्शन की जगह क्रान्तिकारी दर्शन को अपनाना होगा। लोकतान्त्रिक आज़ादी के प्रवक्ता, सांस्कृतिक प्रगति के वक्ता, समाज सुधारक, वफादार मानवतावादी सत्य अहिंसा प्रेम व शान्ति के पुजारी और वे सभी लोग जो सामाजिक समरसता को असलियत में बदलना चाहते हैं, उन्हें इसी रास्ते पर चलना होगा। भौतिकवादी दर्शन, जिसके माने हैं आस्था की जगह ज्ञान, जड़ता की

जगह बुद्धि, (मेटाफिजिकल) यानी अप्राकृतिक की जगह (फिजिकल) प्राकृतिक, अस्वाभाविक (सुपर नेचुरल) की जगह स्वाभाविक (नेचुरल), (फिक्शन) मनगढ़न्त की जगह (फैक्ट) तथ्य, यह सब न केवल राजनैतिक आज़ादी और आर्थिक सम्पन्नता तथा सामाजिक उत्कर्ष की ओर ले जायेंगे बल्कि आध्यात्मिक आज़ादी की ओर भी अग्रसर करेंगे।

भारत का संदेश

भारत के जगद्‌गुरु अन्ध परम्पराओं से ओतप्रोत होकर इस बात पर दृढ़ हैं कि भारत का दर्शन पश्चिम से अलग है। आदर्शवादी दर्शन के मूल सिद्धान्त अपने मध्ययुगीन सर्वेक्षण तथा पूर्व-क्रिश्चियन आधारभूमि के साथ साबित करते हैं कि यह बकवास है। भारत का भावनात्मक सोच ईसाई रहस्यवाद से मेल नहीं खाता है, गो कि बौद्धिक स्तर पर वह पश्चिमी सोच से बढ़कर नहीं है। जहाँ तक सर्वात्सायी सिद्धान्तों का सवाल है, पश्चिमी दिमाग़ भारत से कम उपजाऊ नहीं रहा है। यूनान के संत, सिकन्दरिया के ऋषि और मध्य युग के संन्यासी—कोई भी ऐसी प्रतिस्पर्धा बड़े मजे में जीत सकता है। नैतिक सिद्धान्तों के मसले पर क्रिश्चियन, यहूदी, शुक्राती, औरस्टोइक परम्पराओं की ठोस भूमि पर अविजित रूप में खड़े हैं। अगर आधुनिक पश्चिम पर लाँछन लगाया जाये कि वह उन नैतिक सिद्धान्तों पर नहीं चला, तो भारत पर भी वही लाँछन लगाया जा सकता है। यह कहना कि भारतीय जन पश्चिम के मुकाबले नैतिक रूप से कम भ्रष्ट हैं, भावनात्मक रूप से ज्यादा पवित्र हैं, आदर्श रूप में कम सांसारिक हैं, या आध्यात्मिक रूप से अधिक ऊँचाई पर हैं, तो यह सब सचाई से मुख मोड़ने की बात है।

पहले हम भारतीय आध्यात्मिक श्रेष्ठता सम्बन्धी तर्क की जाँच करें तब उसके सामाजिक महत्त्व की व्याख्या करें। उसके सामाजिक महत्त्व से ही उसका ऐतिहासिक महत्त्व निश्चित होगा। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की सही स्थिति समझना सुलभ होगा और तभी यह पता चलेगा कि क्या यह पश्चिमी आधुनिकता का विकल्प बन सकती है। अगर हम मानकर चलें कि मानव प्रगति के पीछे की ओर भी लौटा जा सकता है।

यह कहा जाता है कि पश्चिमी (आयडियलिज्म) मायावाद सोच का बुद्धिवादी तरीक़ा है, जबकि भारतीय दर्शन मात्र अनुभव पर आधारित

है। इस कथन से एक नया सवाल पैदा होता है कि अनुभव है क्या ? यहाँ पर यह अंकित करना चाहिए कि पश्चिमी मायावाद-अलौकिक (मेटाफिजिकल) सोच भी अनुभव से ही प्रारम्भ होता है। वह मानता है कि ज्ञान का स्रोत मात्र अनुभव है। लेकिन भारतीय दर्शन का 'अनुभव' खुलासा तौर पर 'जानना' नहीं है। वह दिमाग़ी प्रक्रिया द्वारा हासिल नहीं होता है। यदि ऐसा होता तो यह पराबुद्धि या पराज्ञान द्वारा हासिल हुआ नहीं होगा। इस प्रकार वास्तविक अन्तर है अनुभव की (कांसेप्ट) विचारधारा में।

अनुभव के लिये दोहरे वजूद की उपस्थिति ज़रूरी शर्त है—एक सब्जेक्ट दूसरा आब्जेक्ट—यानी अनुभव करने वाला और अनुभव की जाने वाली चीज़। अनुभव का प्रादुर्भाव तब होता है जब ईगो का नॉन-ईगो से सम्पर्क जुड़ता है—यानी कर्ता और कर्म का सम्पर्क होता है और यह सम्पर्क पैदा होता है इन्द्रियों की मध्यस्थता से। अनुभव को प्राप्त करने का केवल एक ही रास्ता सम्भव है। वह है सेंसेशन के ऑर्गन, यानी इन्द्रियाँ जो ज्ञेय वस्तु से ईगो (मनस) में चेतना पैदा करती है। इस प्रकार अनुभव एक बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा हासिल होता है। वह कोई पराबौद्धिक वस्तु नहीं है।

लेकिन भारतीय दर्शन में अनुभव एक बिलकुल अलग चीज़ है। वह बहिरंग चीज़ का ज्ञान सेंस ऑर्गन द्वारा प्राप्त करने का तरीक़ा नहीं है। यह एक क़िस्म का डायरेक्ट—सीधा अनुभव है जिसे आधुनिक पश्चिमी दर्शन मेटाफिजिकल स्थूल कहता है। डायरेक्ट अनुभव के माने हैं—अनुभव का जो कुदरती तरीक़ा है उससे उलटा। फलस्वरूप यह अनुभव किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता। यह एक क़िस्म की स्वानुभूति है—यह एक दैवी प्रकाश है और दैवी प्रकाश का अनुभव की प्रक्रिया से कोई मतलब नहीं। यह परम तत्त्व और परम ज्ञान आब्जेक्टिव वस्तु से बिलकुल निष्काम (डिटैच्ड) होकर ईगो का प्रकाश है।

भारतीय दर्शन का, दर्शन के स्तर पर पश्चिमी आयडियलिज्म से फ़र्क़ नहीं किया जा सकता है। अगर वाकई अनुभव पर आधारित है तो अनुभवगम्य वस्तु की एक बौद्धिक प्रणाली होनी चाहिये। एक सकारात्मक विचार प्रणाली होनी चाहिये। लेकिन भारतीय दर्शन अनुभव पर आधारित नहीं है। यह ज्ञान को शारीरिक प्रक्रिया की पहुँच से बहुत दूर रखता है। यह शक्ति को पराऐन्द्रिक धरातल पर खोजता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन का आधार त्याग कर पश्चिमी मायावाद से फ़र्क़ का दावा करता है। यह दावा है—अमानवीय ज्ञानार्जन का। जबकि पश्चिमी मायावाद या आयडियलिज्म अपने को मात्र प्रकृति विज्ञान तक सीमित रखता है। यह दोनों में वास्तविक अन्तर है। कट्टर भारतीय दर्शन खासतौर से एक धार्मिक सोच है। जबकि पश्चिम का प्राचीन आदर्शवाद आस्था के प्रति चुनौती के रूप में उभरा है।

प्रत्यक्ष अनुभव का सिद्धान्त आस्था का ही दूसरा नाम है। दैवी प्रेरणा-युक्त व्यक्ति की ईश्वर द्वारा प्रेरित आस्था को पराऐन्द्रिक अनुभव, उन्मत्तता या समाधि की अवस्था में प्रमाणित नहीं किया जा सकता। और अप्रमाणित तथ्य को चाहे मनगढ़न्त कह कर उड़ा दो, चाहे सत्य मान लो। उसका कोई प्रमाण नहीं होता कि द्रष्टा ने जो देखने का दावा किया है वह देखा भी है। केवल उसकी जबान पर विश्वास करना है। इसलिए ऐसे सत्य को परखने के सिद्धान्त अनुभव नहीं बल्कि द्रष्टा के कथन की विश्वसनीयता मात्र हैं। इस प्रकार मनगढ़न्त सत्य भावनात्मक हो सकता है, या एक अज्ञानी के पूर्वग्रही और अख्खड़ ख़याली पुलाव हो सकते हैं। फिर उन मतिभ्रम लोगों की मूर्छना या एक छलिया को जानबूझ कर बोलने की आदत, सभी कुछ ज्ञान का गौरव प्राप्त कर सकते हैं।

बेशक इस सिद्धान्त के अनुयायी कहते हैं कि जिसका जी चाहे इसकी सत्यता प्रमाणित करके देख ले। लेकिन जब ऐसे अनुभव की प्राप्ति में असफलता मिलती है तो यह अर्थ लगा लिया जाता है कि उस व्यक्ति में

ज़रूरी आध्यात्मिक शक्ति की कमी थी जिससे वह परमानन्द पाने से रह गया। इस प्रकार आत्म प्रवंचना को बढ़ावा मिलता है। कौन आदमी अपनी आध्यात्मिकता में खामी मंजूर करेगा, यदि उसकी इज्जत (रेपुटेशन) से उसे आसान बचाव का तरीक़ा मिलता रहा है। कौन आदमी होगा जो द्रष्टा की पदवी पाने का मोह छोड़ देगा, जबकि उसकी सर्वोच्च क़ीमत मात्र आत्म-प्रवंचना हो। इस 'पवित्र धन्धे' में अभी ज्यादा भीड़ नहीं है क्योंकि आदमी के अन्तरजात ज्ञान ने इसके तथाकथित फायदों को सीमित कर रखा है। जितनी ज्यादा अज्ञानता होगी उतना ही ज्यादा डायरेक्ट अनुभव का विश्वास विस्तृत होगा।

सो इस अजूबा प्रत्यक्ष अनुभव से भारतीय दर्शन पश्चिमी आयडियलिज्म के ऊपर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं कर पाता। इस क्लासिकल सिद्धान्त का जनक प्लेटो है। उसका परम ज्ञान सम्बन्धी सोच सिकन्दरिया के रहस्यवादियों में सीधे घर कर गया। तब से सम्पूर्ण मध्य युग में उन्मत्तता ईसाई आस्था की वस्तु बन गयी। मध्ययुगीन सन्तों ने दैवी प्रकाश को अपनी आत्मा में अनुभव किया और दैविकता को आमने-सामने देखा। आधुनिक आयडियलिज्म ने इस अन्धविश्वास को भंग किया लेकिन शुरू की कामयाबी के बाद उसमें अपने ही द्वारा कमी पैदा हो गयी और बुद्धिवादी आस्था में बदल गयी और वैज्ञानिक मजहब में तबदील हो गयी। यह तिरस्कार स्वरूप तो आयी पर विनीत भाव से ठहर गयी। हमारे समय में आधुनिक मायावाद ने भी खालिस अनुभव का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और धार्मिक अनुभव को पुनर्जीवित किया।

आयडियलिज्म या मायावाद का अन्त इसी भाँति होना ही था। अपने स्वभाव के कारण इसे धार्मिक अनुभवों में स्तब्ध जलप्रवाह में उतरना था। रहस्यवादी उड़ानें इसके वजूद में निहित थीं। अस्थूल भाव के बारे में आब्जेक्टिव वजूद का सिद्धान्त बिना नागा उस नतीजे पर पहुँचता है कि अनुभूति के भौतिक आकार हमें जानने योग्य वस्तु के समान नहीं

पेश कर सकते। आकारहीन श्रेणियाँ हमारी ऐन्द्रिक अनुभूति की परिधि के अन्दर नहीं जातीं। हमारा परास्थूल श्रेणियों की अनुभूति नहीं कर सकता। इसलिये वे सब इनट्युशन के विषय बन कर रह जाते हैं। इस प्रकार हम दुबारा रेवेलेशन में विश्वास की ओर लौटते हैं। आज के वैज्ञानिक आदर्शवादी पुरानी शब्दावली इस्तेमाल नहीं कर सकते। वे पुराने विश्वास को व्यक्त करने के लिये नये वैज्ञानिक शब्द ईजाद करते हैं। (खैर) धार्मिक अनुभव, प्रत्यक्ष अनुभव और खालिस अनुभव, मौजूदा पश्चिमी आदर्शवाद के लिये कोई नये नहीं हैं।

एक तत्कालीन दार्शनिक लेखक जो खुद आधुनिक धर्माचार्य हैं—निम्न विचार ज़ाहिर करते हैं— धर्म की विचारधारा एक धोखा है। यदि उस पर खास तौर से विश्वास किया जाये तो कुछ कदर हासिल किया जा सकता है। क्योंकि धर्म जो सत्य होने का विश्वास दिलाता है सम्पूर्ण रूप से सही नहीं है। लेकिन उसे सही होना चाहिये। और वह सही हो सकता है यदि उसकी सत्यता पर दुविधा न की जाती। ये विचार (मॉरल मैन और 'इमॉरल सोसाइटी') में रीनोल्ड नीवर ने कहे हैं। बुद्धि को धोखा (इलयूजन) का स्थान देना भारतीय दर्शन की खसूसियत रही है। इसलिये यह अपनी श्रेष्ठता दिखाने का उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता। यूरोप के इतिहास में मानव सदा मिजाज और परम्पराओं से आच्छादित रहा है। अपने समय में एक विद्वान् दार्शनिक जॉन डीवी ने लिखा है कि— असमंजस के समय भावनात्मक संवेगों में उत्पन्न धोखाधड़ी (इलयूजन) ने वह काम किया है जो बुद्धि के वश का नहीं था।

भारतीय दर्शन फिजूल में चरम सत्य पाने की कोशिश, जो बुद्धि की पहुँच से बाहर है, भूत में इसी तरह की गाढ़े समय की ईजाद है। तत्कालीन पश्चिमी मायावाद भी मौजूदा पूँजीवादी सभ्यता की अराजकता के कारण उसी तरह के सोच में बदल गया है। स्वार्थी तत्त्वों की हिली चूलों को मजबूत करने के लिये भावनाओं, परम्पराओं और इलयूजन को सदा

विवेक पर हावी रखा गया। जॉन डीवी मानते हैं—अन्धविश्वास, सर्वमान्य परम्पराएँ, स्वार्थी तत्त्वों का खुला खेल और हिंसा ने उसे और मजबूत किया है।

इस प्रकार विवेकहीन क्षणों में पश्चिमी मायावाद का, यह स्वभाव रहा। उसने शुरू में धार्मिक परम ज्ञान सम्बन्धी सोच से अपने को अलग रखा लेकिन वह भारतीय दर्शन से इसलिये अलग रहा कि उसने दैवीगत सत्य के विश्वास को निरस्त कर बुद्धि से आस्था की लड़ाई लड़ी।

गो कि पश्चिमी मायावाद, जब तक वह सख़्त दार्शनिक भूमि पर रहा ज़रूर भारतीय रहस्यवादी (मेटाफिजिक्स) पराभौतिक उड़ानों में पड़ गया था। फलतः भारतीय आध्यात्मिक संदेश उसके लिये अर्थहीन हो गया। क्योंकि पश्चिमी जगत् ख़ुद ईसाई परम्पराओं के वही रहस्यवादी रंग पकड़ने लगा। फिर भी यह जानना बड़ा कठिन है कि भारतीय संदेश है क्या ? यह कठिनाई इस बात से और बढ़ जाती है कि भारतीय दर्शन सदा अन्तर्विरोधी और हेट्रोजीनस सोच का एक समुच्चय रहा है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न प्रवक्ता और टिप्पणीकारों ने उसके एक नहीं अनेक प्रकार के अर्थ लगाये हैं। उन्होंने क्रमशः धर्म, शुद्धविचार और भावनात्मक मूल्य तथा नैतिक स्तरों पर ज़ोर दिया है। भारतीय संस्कृति के टिप्पणीकारों के अपनी संस्कृति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में न देखने की असफलता के कारण यह भ्रान्ति पैदा हुई। जो लोग उसे महान् मानव संस्कृति का नाम देते हैं और उसे दुनिया के ऊपर लादना चाहते हैं, वे उसके गुण-दोष समझने में ही असफल रहे।

हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में आम तौर पर सनातन धर्म को मंजूर किया जाता है, सनातन धर्म जैसा कि उसके नाम से प्रभाषित होता है, धार्मिक तौर पर एक मान्य सामाजिक सिद्धान्त है जो अनादि होने का दावा करता है, बशर्ते उसका सही तौर पर परिपालन हो। यह कहा जाता है कि भारत की मौजूदा हालत इसलिये हुई है क्योंकि हम

सनातन धर्म में निहित अन्तिम सत्य के पथ से मुकर गये। एक बार फिर उसी रास्ते पर लौट आयें तो भारत फिर उसी स्वर्णयुग में पदार्पण करेगा और समाज की भौतिकता से दुखी विश्व के सामने मिसाल क़ायम करेगा। यहाँ पर यह नहीं बताया जाता है कि भारत क्यों अपने रास्ते से मुकर गया? क्यों भारत का आध्यात्मिक विवेक अपनी राह पर चलने से भटक गया? फिर आदर्श ख़ुद अपने में एक पहेली है। इसकी तरह-तरह से टिप्पणी की गयी है—एक धर्म, एक आस्था, एक दार्शनिक व्यवस्था, एक नैतिक परम्परा। प्राचीन काल में वह कुछ भी रहा हो, हमें तो उसकी मौजूदा परिपालन की व्याख्या करनी है जो दुनिया को सभी मर्ज़ों की दवा बताने का दावा करता है।

सनातन धर्म के सिद्धान्तों के प्रखर प्रवक्ता के रूप में सन् 1933 में कलकत्ता में हुई एक कान्फ्रेंस के अध्यक्ष एम.के. आचार्य के भाषण के कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं। उस कान्फ्रेंस में जगत्गुरु शंकराचार्य भी उपस्थित थे। जिनकी मौजूदगी यह ज़ाहिर करती है कि जो कुछ वहाँ पर कहा गया उस पर उनकी मोहर लगी थी। उन्होंने कहा कि 'बच्चों की शादी पर रोक लगाने वाला क़ानून बहुत बुरा है। वह अचिन्तकों की ग़ुलामी-भरी प्रवृत्ति है, गाँधी द्वारा हरिजन प्रवेश आसुरी है। यह काम सभी सनातन धर्म-प्रेमियों पर कोड़े लगाने जैसा है। इसके खिलाफ़ भारत ही नहीं पूरी दुनिया को प्रतिक्रिया व्यक्त करनी ज़रूरी है। बहुत ही जल्दी इस भू-मंडल का हर देश उन समस्याओं से घिर जायेगा जिनका दिमाग़ी प्रवृत्ति में मूल परिवर्तन किये बिना हल नहीं हो सकता। पश्चिमी ऐन्द्रिक तृप्ति से विलग होकर, हमें चाहिये कि इन्द्रिय संयम पर ज़ोर दें, जो भारतीय धार्मिक संस्कृति की जान है। भारत असंख्य वर्षों से सनातन धर्म का घर रहा है। वह हमें सिखाता है कि कैसे हर बच्चा-बूढ़ा अपने जन्म और जाति में पलकर अपना धर्म-पालन करे—और आत्म संयम बरते। उसी के अनुरूप अपना स्वभाव विकसित करे। इस प्रकार अपने दैविक आशीर्वाद को हासिल करे जो हर जीव में बहुत गहरे पैठा हुआ

है। यह आशीर्वाद पूरी मानवता का स्फुरण कर रहा है। सिगरेट, सिनेमा, इन्द्रिय सुख, फिजूल का लोकतन्त्र, मन्दिर प्रवेश पर रोक ही हमें धार्मिक अनुशासन की ओर ले जा सकती है। उसके जरिये ही परमानन्द प्राप्त हो सकता है। भारत को चाहिये कि वह आधुनिक संसार को रास्ता दिखाये। हमें आँखें खोलनी चाहिये और हमें इस महान् उद्देश्य के लिए उसके योग्य बनना चाहिये। हमें न तो बनावटी मन्दिर प्रवेश अभियान से, न फिजूल की कागजी योजनाओं (भारतीय संविधान) से जो उन लोगों द्वारा बनायी गयी हैं जो भारतीय विवेक से वाकिफ नहीं हैं, परेशान होना चाहिये। जब तक मूलभूत बदलाव नहीं होता दोनों चीज़ों से लाभ के बजाय हानि अधिक होगी, एक ईश्वर प्रेम सम्बन्धी धर्म के अनुरूप हो और दूसरा स्वराज्य के उच्च आदर्शों के अनुरूप हो।

आम तौर पर भारतीय राष्ट्रवादी बड़े ज़ोरों से सनातन धर्म के इस अगुआ की क्रोधपूर्ण भड़ास में मामूली खामियाँ बतायेंगे। मगर उनके तर्क में कहीं कोई असंगति नहीं होगी। वे एक बेशरम और सहृदय प्रतिक्रियावादी हैं। वे जानते हैं कि ज़रा-सा राजनैतिक विकास यहाँ तक कि मामूली 'कागजी योजना' भारत को सनातन धर्म के वाँछित आदर्श से दूर ले जायेगी। इसलिये वे भारतीय सांस्कृतिक प्रतिक्रियावाद के हित्त में देश की राजनैतिक तरक्की की खिलाफत करने में ज़रा भी शर्म नहीं खाते। उनकी स्थिति उनसे कहीं ज्यादा तर्कसंगत है जो राजनैतिक तरक्की और सांस्कृतिक प्रतिक्रियावाद को एक में मिलाकर चलते हैं। महात्मा ने ख़ुद मन्दिर प्रवेश और छुआछूत निवारण के खिलाफ सनातन धर्मियों की खिलाफत की, यथार्थता को मंजूर किया है। वह अपनी वाँछित इच्छाओं को क़ानून द्वारा लागू नहीं करना चाहते। उनकी घोषित इच्छा है कि सामाजिक और धार्मिक सुधार कट्टर अन्धविश्वासियों की इच्छा के अनुसार लागू किये जायें। इसके अनुसार महात्मा ख़ुद सनातन धर्म के पुजारी हैं और आचार्य द्वारा गिनाये गये आध्यात्मिक आदर्शों और नैतिक सिद्धान्तों में उनका पूरा विश्वास है।

राजनैतिक प्रवृत्ति और महात्मा पर आक्रमण से अलग, आचार्य का बयान भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा के मुतालिक कोई भी व्याख्याता ऐसे ही बयान दे सकता है----चाहे वह टैगोर हो या गाँधी, कट्टर ईसाई हो या आर्यसमाजी या राधाकृष्णन् की कोटि का बुद्धिवादी। आदरणीय आचार्य के विचार भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं और विश्व के प्रति भारतीय सन्देश की व्याख्या करते हैं।

आचार्य की उदारता को साधुवाद। उनके द्वारा प्रस्तुत तस्वीर इतनी ज्यादा पूर्ण है कि उसका अर्थ खुलासा करने के लिये उसमें कोई भी नुक्ताचीनी की ज़रूरत नहीं है। उन्होंने भारतीय संस्कृति का सामाजिक आधार नंगा करके रख दिया है। जीवन के उच्चतम आदर्शों का अर्थ खुलासा करके रख दिया है। पूर्व में सत्ताधिकारियों की यथास्थिति, शक्ति और आशाइश को यथावत् बनाये रखने के लिये ऐसा किया जाता आया है। आज अपने टूटे हुए सामाजिक ढाँचे को इकजाई करने के लिये उसका प्रयोग ज़रूरी है। इसलिए जनमानस के स्वाभाविक रुझानों में अवरोध और पीड़ा पहुँचाने का ऐसा संगठित मायाजाल और सामाजिक विकास की सामान्य ताकतों पर मुकम्मल प्रतिबन्ध का काम करता है। यही भारतीय धार्मिक संस्कृति का मूल मन्त्र है।

हमारी संस्कृति का मूल मन्त्र है जिससे दुनिया को मोक्ष दिलाने में अपार आसानी होती है----आत्म संयम। ख़ुशक़िस्मती से हम लोग बहुचर्चित शब्द के वास्तविक अर्थ को जानने में दुविधा नहीं रखते। सनातन धर्म बताता है कि हर औरत-आदमी को अपने जन्म और वातावरण के मुताबिक स्वधर्म या आत्म संयम का पालन करना चाहिये। प्रकारान्तर से भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक विवेक उसकी इस सफलता में है कि वह हर आदमी को यह सिखाये कि उसे अपने मुक़द्दर के साथ कैसे बन्धे रहना चाहिये। उसकी स्थिति समाज में हमेशा के लिये तय है। मगर याद रहे आत्म संयम के माने हैं सामाजिक दासता के सधे हुए तन्त्र के प्रति इच्छा से सम्पूर्ण समर्पण। उच्च स्वभाव जो आत्म संयम रूपी गुण से विकसित

होता है, वह है दास प्रवृत्ति। यह वह आदर्श है जो जन साधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। क्या सत्ताधारियों द्वारा बतायी गयी कर्त्तव्य परायणता के स्थान पर यह दास मानसिकता, बौद्धिक जड़ता, नैतिक पतन, जीवन के सभी चिह्नों का ह्रास नहीं है ? खाली जीवन में यही दैवी आनन्द ढाढस के तौर पर ख़ुद टटोले। दैविकता की यह भावना गुलामी को कितनी दूरी पर रखती है। उनके अज्ञानमय आनन्द पर इसलिये ज़ोर दिया जाता है कि जीवन में परिवर्तन सम्बन्धी विचार या मालिकों के आशाइश पर हमला बोलने के विचार उनके मन में पैदा तक न हो पायें।

ऐन्द्रिक सुख बेशक अवरोध हैं। मामूली चीज़ें—सिगरेट और सिनेमा ही धार्मिक अनुशासन भंग नहीं करते, बल्कि लोकतन्त्र भी परमानन्द प्राप्ति के लिये घातक है। इस प्रकार धार्मिक अनुशासन का उद्देश्य है—जीवन की ज़रूरत वाली चीज़ों को ज्यादा से ज्यादा हटा कर निम्नतम स्तर पर जीवन जीना। यह ठहरे हुए समाज का आदर्श है। उस समाज का जिसने आगे बढ़ना बन्द कर दिया है। प्रकारान्तर से अपने सामाजिक ढाँचे में जीवन की इच्छाएँ और अभिलाषाएँ भर जाती हैं। ऐसे समाज में जब तक उपभोग को निम्नतर स्तर तक हटाया नहीं जाता, फालतू धन में मुनाफा बहुत कम होता है। और सत्ताधारियों की आमदनी, जो पुरोहितों, सामन्तों और रईसों का संगठन है, कम होती जाती है। अतः इस दुनियावी दांव-पेंच से सनातन धर्म के नैतिक सिद्धान्त निकलते हैं। जितनी ही जन सामान्य की ज़रूरतें कम होंगी उतना ही ज्यादा सत्ताधारी भौतिक सुखों का संचय और उनका उपभोग कर सकेंगे—उनसे सांठ-गांठ वाले पुरोहित अपना प्रवचन जारी रख सकेंगे—आत्म संयम, सादगी आदि ही जीवन के उच्च आदर्शों तक पहुँचने की सीढ़ी हैं। इस अनैतिकता के अलावा धार्मिक अनुशासन समाज व्यवस्था की तरक्की पर मुकम्मल रोक है।

विस्तृत उपभोग उत्पादक शक्तियों के विकास को बढ़ाता है। रूलिंग क्लास की उपभोग योग्यता उनके अल्प मत होने के कारण सीमित होती है। इस संगठित तन्त्र द्वारा, जो अन्य धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित है,

जन सामान्य की ज़रूरतों पर मामूली रोक पूरी समाज व्यवस्था पर प्रतिक्रियावादी प्रभाव डालता है। सनातन धर्म ने, अल्प जन के हित में सामाजिक अवरोधों की विचारधारा के रूप में भारतीय नासमझों की धीमी सांस्कृतिक मृत्यु की प्रकिया अपनायी है।

इन्द्रिय सुख पर रोक लगा कर और धार्मिक अनुशासन अज्ञानता को उठाकर उसे सर्वोच्च गुण की पदवी से विभूषित करता है। वह पूर्वग्रहों को और मजबूत करता है, जो अज्ञानता पर ही पलते हैं और सभी सांस्कृतिक तरक्की को दूर रखते हैं।

इन्द्रियों के अनुभव से जो ज्ञान पैदा होता है वही ज्ञान है और वही ज्ञान संस्कृति का आधार है। यदि आप इन्द्रिय सुख पर रोक लगा रहे हैं तो आप आदमी की ज्ञानार्जन वृत्ति पर भी रोक लगा रहे हैं। यह उससे भी ज्यादा बेवकूफी है कि एक को इन्द्रिय सुख की इजाजत हो और दूसरे को मनाही हो। अगर सिगरेट पीना पाप है तो संगीत सुनना भी खराब है। अगर किसी सुन्दर स्त्री को देख कर सुख प्राप्त होता है और वह ग़लत है, तो फिर सुन्दर गुलाब के फूल को भी देखना या उम्दा मूर्तियों को देखना और उनकी तारीफ़ करना भी मना होना चाहिये। अगर कुदरती वासना भाव को दबाना ठीक है तो उसी भाँति कुदरती भूख और प्यास को भी दबाना उचित होगा।

इन्द्रिय सुख में बाधायें डालने में कोई नैतिक शक्ति नहीं है। दरअसल वह रूलिंग क्लास के फूहड़ भौतिकवादी हित में जड़ जमाये बैठी है। प्रथम उद्देश्य यह है कि जनसामान्य को निम्नतम श्रेणी में बनाये रखा जाये, जहाँ मात्र उनका भौतिक वजूद भर क़ायम रहे जिससे वे अपने श्रम का निम्नतम अंश ही उपभोग कर सकें और प्रकारान्तर से उनके श्रम का सबसे बड़ा भाग उन निखट्टू पराश्रयी अल्प जन के हिस्से में पड़ सके। और दूसरा, जन-सामान्य को अज्ञानता के सागर में गोते लगाते रहने का बन्दोबस्त किया जाये, जिससे उन्हें हमेशा मनवाँछित ढंग से इस्तेमाल किया जा सके।

सनातन धर्म का मूल मन्त्र है कि मनुष्य की स्थिति उसके जन्म से तय होती है, लोकतन्त्र से उसकी कोई भलाई नहीं। लेकिन किसी भी राजनैतिक प्रसार का स्वराज्य के उच्च आदर्शों से मेल खाना चाहिये। यह उच्च आदर्श अभी तक राजनैतिक क्षेत्र में परिभाषित नहीं किये गये हैं। मगर शायद वे सनातन धर्म के सिद्धान्तों से संचालित होंगे, जिन्हें शर्तिया तौर पर लोकतन्त्र से कुछ लेना देना नहीं। चूँकि सामाजिक स्थिति जन्म द्वारा तय होती है और हर व्यक्ति को अपनी निर्धारित ड्यूटी बजानी है, इस तरह ऊपरी अल्प जन की पोजीशन वैसे ही अपरिवर्तनीय है जैसी नीचे के इन दलितों की। इस प्रकार स्तर भेदी समाज का, जो सनातन धर्म के सख्त सिद्धान्तों से बन्धा है, निर्माण हुआ है। जैसे ग़ुलामों को पालना मालिकों का दैवी अधिकार है, ठीक वैसे ही है ग़ुलामों द्वारा मालिकों की सेवा करना, ग़ुलामों की धार्मिक ड्यूटी है। सनातन धर्म का यही आध्यात्मिक संदेश पश्चिम के जनसामान्य तक पहुँचा दिया जाये तो सत्ताधारी भारत के प्रति बहुत आभारी होंगे। लड़खड़ाते पूँजीवादी के लिये इससे उम्दा बात और क्या होगी कि उसके शरीर का धर्मान्तरण सनातन धर्म के परमानन्द में हो जाये। अपने आप में ही निम्नस्तरीय जीवनयापन के प्रति स्वेच्छा से समर्पण, लेकिन इसका बहुत ही मामूली चाँस है कि सनातन धर्म अपने विश्वव्यापी संदेश में सफल हो सके। चाहिये तो यह कि भारत स्वयं अपने आध्यात्मिक जुए को उतार फेंके—अगर वह चाहता है कि अब और पतन, दुराचार, भ्रष्टता व बरबादी न हो।

दुनिया के सामने भारतीय संदेश के रूप में गाँधीवाद को रखा जा सकता है। यह केवल राष्ट्रवादी विचारधारा पर ही हावी नहीं है बल्कि इसकी अनुगूँज विदेशों में भी पहुँची है। यह गाँधी का नैतिक रहस्यवाद है जो पश्चिमी लोगों को पसंद आता है।

भारतीय पुनर्निर्माण की पूर्व शर्त

आज पश्चिमी जीवन में अध्यात्मवादी पुनरुद्धार और रहस्यवादी प्रचुरता को सब पापों के विनाश के लिये पश्चात्ताप का अर्थ दिया जा रहा है और भारत में इस अर्थ ने हमारे पूर्वग्रहों पर विद्युत प्रभाव डाला है। लेकिन भारत को आधुनिक राष्ट्रों की संगति में आने के लिए उसमें मौजूद प्रगतिवादी शक्तियों को इन पूर्वग्रहों से मुक्त करने की ज़रूरत है। भौतिकवादी विश्व के दम्भी संरक्षक हमारा स्थान हमारे स्वर्णिम युग की ओर मोड़ कर उसे हर मर्ज का इलाज बताते हैं। इस आत्मदम्भी उद्देश्य के पीछे न झाँक कर हम भविष्य को भुलाकर अन्धी भीड़ की तरह अपनी वैचारिक व्यग्रता में डूब जाते हैं।

यदि हम आधुनिक यूरोप की सांस्कृतिक भूमि पर एक सरसरी निगाह डालें तो कुछ कट्टरवादियों को छोड़कर सभी की राय होगी कि पश्चिमी सभ्यता के लिये भारत के वैद्यों का इन्तज़ार करने की ज़रूरत नहीं—अगर उसे अपनी बुराई को दूर करने के लिये अध्यात्मवाद रूपी जादुई औषधि की ज़रूरत हो। यूरोप वह दवा अपने गर्द के पर्त में छिपे गड्ढों में ख़ुद ढूँढ़ सकता है। अध्यात्मवाद की जड़ मरणासन्न बुर्जुवा क्रिश्चियन समाज और मूर्तिपूजक वैचारिक उड़ानों तथा उनकी धार्मिक विचारधाराओं, जिसने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को जन्म दिया है, की तह में ढूँढ़ी जा सकती है। एक बार यह समझ लिया जाये कि भारत जिस क्षेत्र में अपनी विशेषता और एकाधिकार मानता आया है, उसके पास दूसरों को देने के लिये बहुत मामूली ही कुछ है। उसके लिये यही उक्ति सही है कि 'डॉक्टर पहले अपना इलाज करे'। भारत को ज़रूरत है चीनी दार्शनिक हो. शी. के दृढ़ विचारों की। हो. शी. चीनी रिनेसाँ का जनक कहा जाता है। उसने पूरे साहस और दृढ़ता के साथ कहा है—'चीन में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे संजोये रखा जाये।

अगर कुछ है तो वह यह कि वह अपने को सुरक्षित रखे। विदेशियों का कहना कि चीन में बहुत कुछ सुरक्षित रखने योग्य है, क्योंकि चीन के हित में नहीं है यह कहकर वे हमारे दर्प को और दुगुना करते हैं। हमें एक ओर से अपनी सफ़ाई पर पश्चिमी सभ्यता को आत्मसात करना है।' भारतीय नौजवानों को सर सी.वी. रमन के 1922 में दिये गये बॉम्बे यूनिवर्सिटी के कन्वोकेशन भाषण की याद दिलाने की ज़रूरत है—उनका सारगर्भित भाषण, उस प्रतिक्रियावादी भ्रमजाल और काव्यात्मक शून्यता, जो भारत को नाक पकड़ कर प्रगति से दूर ले जाने को उत्सुक है, की बनिस्बत कहीं महत्त्वपूर्ण है। भारतीय युवा पीढ़ी का दिमाग़ी बन्धन इसी से झलकता है कि रमन के युगान्तरकारी भाषण का उन पर ज़रा भी प्रभाव नहीं पड़ा। जबकि प्रतिक्रियावादी बाजारू नेताओं और नीम-हकीमों के भाषणों को शिखर बुद्धिमत्ता मान कर वे तालियाँ गड़गड़ाते हैं।

कुछ भारतीय समय-समय पर अपनी बुद्धिमत्ता प्रमाणित करते रहते हैं। रावेन शा कॉलेज कटक में 1934 में लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डॉ. परांजप्ये ने कहा था—'हमारा प्राचीन साहित्य, दर्शन और सभ्यता हमें गहन अध्ययन के लिए प्रेरित करती है। मगर उस सभ्यता का बीज तत्त्व तो हमने पकड़ा ही नहीं। हम उसके फल-फूलों से ही चिपके रह गये। यहाँ एक कट्टर राष्ट्रवादी भावना ज़ोर पकड़ रही है जो कि पुराना है वह सब संजोये रखने योग्य है और प्राचीन से चिपके रहने के कारण ही हम इस दशा को प्राप्त हुए हैं। हमने अन्य देशों की तरक्की से कुछ नहीं सीखा। कट्टर राष्ट्रवादी भावना और जातिवाद कुछ ऐसी हानिप्रद बुराइयाँ हैं जिनसे आज सारी दुनिया दुःखी है। इटली और जर्मनी इसकी मिसालें हैं।'

दूसरों की महानता को अध्यात्मवाद के पैमाने पर तौल कर हमें अपने दर्प को दूर करना चाहिये। हम दुनिया को सीखने की इच्छा से देखें और

अपनी समस्याओं को यथार्थ से जोड़ें। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक श्रेष्ठता यूरोप के इतिहास को नकारती है। प्राचीन ग्रीस और रोमन परम्पराओं से लेकर 16 वीं सदी के ईसाई युग तक बुद्धिवाद और वैज्ञानिक ज्ञान ने मध्ययुगीन अन्धकार का नाश करना शुरू कर दिया था और मानव की वैचारिक प्रक्रिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यूरोप की उस लम्बी अवधि में जनजीवन और संस्कृति बराबर अध्यात्मवादी रही, पूर्ण रूप से अनपढ़ और व्यवसायी पुरोहितों द्वारा आच्छादित रही। वह युग उन सभी चीज़ों से मंडित था जिसे आज हिन्दू बड़े विश्वास के साथ अपनी महान् संस्कृति कहते हैं—अपनी जाति का विशिष्ट विवेक कहते हैं। हजार साल से ऊपर यानी अलेक्जन्ड्रियन युग की समाप्ति तक आस्था और विश्वास यूरोपीय मस्तिष्क में छाया रहा। दैवी ज्ञान ने विवेक को मातहत बनाये रखा। प्राचीन ग्रीस के भौतिकवादी दर्शन को एथेंस युग के नैतिक दर्शन और अलौकिक विचारधारा ने आच्छादित कर रखा था। बाद में वही क्रिश्चियन धार्मिकता की दार्शनिक नींव पर ख़ुद नये धर्म-तन्त्र में बदल गया।

उस लम्बे अन्तराल के इतिहास की थोड़ी-सी जानकारी से ज्ञात होता है कि धार्मिक सोच किसी विशिष्ट जाति का विशिष्ट विवेक नहीं है। बल्कि एक ख़ास क़िस्म के सामाजिक रिश्तों से समृद्ध है, जिनका भौगोलिक सीमाओं से कोई वास्ता नहीं है। वास्तव में अपने बौद्धिक विकास की एक ख़ास सीमा पर आदमी केवल धर्म के आधार पर ही सोचता है और अपनी उत्कंठा निगूढ़ नैतिकता की उन्नति तक ही प्रकट कर पाता है। उन हालात में धर्म, रहस्यवाद, अलौकिक उड़ानें एक सामाजिक ज़रूरत बन जाती हैं। हर जाति इस अवस्था में बेवजह धार्मिक, रहस्यात्मक और अलौकिक ढंग से सोचती है। उनके सोच के तथ्य परस्पर समान होते हैं। उनके मूल में एक-सी नियत होती है। भौगोलिक और वातावरणीय अन्तर मामूली विशिष्टताएँ रह जाती हैं। जब तक अज्ञानता

आदमी को उसमें मौजूद सैकड़ों योग्यताओं के बारे में जानने को मना करती रहती है, अपनी मौजूदा स्थिति से ऊपर उठने को और अपने रास्ते में आये विघ्न-बाधाओं पर काबू पाने को आदमी बराबर अलौकिक शक्ति का सहारा लेता रहता है। लेकिन जब कुदरत की जानकारी और साथ ही अपने को भी कुदरत का एक हिस्सा होना समझ में आ जाता है, तो उसके अज्ञान का विनाश शुरू हो जाता है। आदमी में ख़ुद आत्मविश्वास जागता है और अध्यात्मवाद बौद्धिक आवश्यकता के रूप में चुकने लगता है। लेकिन फिर भी पूर्वग्रह के रूप में मौजूद रहता है और अध्यात्मवाद मानव में प्रतिक्रियावाद का सहगामी बन जाता है।

मध्ययुगीन यूरोप में अध्यात्मवाद ने सामाजिक स्तर पर इतनी ज्यादा प्रतिक्रियावादी और वैचारिक धरातल पर ऐसी दास प्रवृत्ति अपना ली थी कि उसने अपने को एक सामन्ती गुण्डागर्दी में बदल लिया था। एक आस्थावान इतिहासकार द्वारा मध्य युग के अध्यात्मवाद का सही चित्रण किया गया है—'भयंकर निर्दयी और ऐन्द्रिक सुखभोगी, वह युग पुरोहितों की पूजा करता था। न कभी जीवन के उच्चादर्शों से प्यार था न समाज के भ्रष्ट लोगों से बैर' (ब्राइस—द होली रोमन एम्पायर)।

भारतीय इतिहास में बौद्ध क्रान्ति एक सीमारेखा बन कर आती है—वह दो धाराओं को अळग करती है—जब सार्थक सामाजिक उद्देश्य पूर्ति के लिये धार्मिक सोच एक आवश्यक बौद्धिक प्रक्रिया थी और वह समय जब उच्च सभ्यता की राह में अध्यात्मवाद प्रतिक्रियावाद का हथियार बन गया था। सांख्य-वैशेषिक जैसे बुद्धिवादी और अर्द्धभौतिक दर्शन ने, जिन्होंने बौद्ध फिलासफी को क्रान्तिकारी बनाने में सहायता की, बताया कि उपनिषदों के प्राचीन धार्मिक विचारों की समय के साथ उपयोगिता समाप्त हो गयी है। उन विचारों की छाया घेरे रहने के माने हैं बौद्धिक प्रतिक्रिया का अन्धकार युग जारी रहना। इससे ब्राइस का मध्ययुगीन चित्रण बिलकुल सही उतरता है।

एक दोष-दर्शी इतिहासकार की निगाह में बौद्धों के बाद का भारत ठीक वैसे ही अनन्त अन्तर्विरोधों से भरा लगता है जैसे यूरोप का मध्य युग।

भारतीय इतिहास का अध्ययन अपनी भूतकालीन महत्ता प्रदर्शित करने वाले पूर्वग्रहों के साथ नहीं करना चाहिये; जिसे दिखाकर अपनी मौजूदा शर्म को छिपाया जा सके और न ही दुबारा लिखने के उद्देश्य से किया जाना चाहिये ताकि थिसिस सिद्ध की जा सके। बल्कि ऐतिहासिक तथ्य की खोज के रूप में करना चाहिये। तब हमें अनन्त सामग्री मिलेगी जिससे पता चलेगा कि बौद्धकाल का अध्यात्मवादी प्राचुर्य और शंकराचार्य द्वारा पुनर्स्थापित हिन्दूवाद दोनों लौकिक और भौतिकवादी आचरण में कितनी स्पर्धा रखते थे— ऐन्द्रिक सुख, विलास, वैभव और दम्भपूर्ण धार्मिकता, नैतिक रहस्यवाद और अध्यात्मवादी दार्शनिक सिद्धान्त भौतिकवादी आचरण में कितने रत थे; भद्र, सामन्त, पुरोहित, सत्ताधारी कितनी स्पर्धा रखते थे।

मध्ययुगीन यूरोप का इतिहास हमारे लिये आईने का काम दे सकता है। जो लोग भारतीय भूत की घृणित तस्वीर का साक्षात्कार करने का साहस न बटोर सकते हों; उनमें उस अध्ययन से अपनी भूतकालीन वैचारिक धारा पर दोषदर्शी दृष्टि डालने के लिये साहस पैदा होगा। और दमकदार काल्पनिक इन्द्रधनुष अपने आप लुप्त हो जायेगा तथा सुन्दर सपनों के असंख्य बुलबुले अपने आप फूट जायेंगे। इसलिये पूर्वग्रही विचारों के कोहरे को साफ़ कर और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिये भूतकालीन बन्धनों को तोड़कर पुरानी और पिटी परम्पराओं के अनावश्यक बोझ को दूर कर युवा भारत को धोखे की टट्टी को नोंच फेंकना चाहिये।

अज्ञानतावश एक औसत हिन्दू-बुद्धिवादी ईसाई धर्म को घृणा की दृष्टि से देखता है। वह बाईबिल के कथानकों को अपनी पुश्तैनी आस्थावान

गहनता के मुकाबिले में बचकाना पाता है। मिसाल के तौर पर वह जेनिसिस के सृष्टि सिद्धान्तों को देख कर मुस्कुराता है–क्योंकि वह वैदिक सृष्टि सिद्धान्त और पौराणिक गल्पों से अनजान है जो आज के युग में प्राप्त ज्ञान के आधार पर ग़ैर मामूली मजाक-सी लगती हैं। उपनिषदों के लिहाज से सृष्टि की उत्पत्ति यों हुई—शुरू-शुरू में केवल एक था, जिसने अनेक बनने की इच्छा की और संसार मय जड़ चेतन के वजूद में आ गया। जब सृष्टि का समय आता है तब ब्रह्म के स्थिर स्वभाव तथा निराकार अवस्था में अहंकार की उत्पत्ति होती है और उसकी मूल अवस्था भंग हो जाती है। एक से अनेक होने की इच्छा से उसकी ऐकिक अवस्था में व्यवधान पड़ता है और तब क्रमशः—आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी पैदा होते हैं।

इस सृष्टि सिद्धान्त को बाद में बौद्धिक रूप दिया गया, जिससे यह साबित हो सके कि सृष्टि सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक थ्योरीज के बारे में हमारे यहाँ पहले से ही अन्तिम रूप से कहा जा चुका है। 'जो वेदों में नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है' हिन्दुओं के लिए यह कहावत आस्था का आधार बन गयी है। यह माना जाता है कि हिन्दू ग्रन्थ मानव ज्ञान के भंडार हैं और जो हमारे ऋषि नहीं कह गये हैं वह आधुनिक वैज्ञानिक भी नहीं कह सकते। लेकिन यह नई दारू को पुरानी बोतल में डालने की आदत खासी मजाक है। क्योंकि वैज्ञानिकों में सृष्टि के एक बारगी वजूद में आने के विषय में कोई ज्ञान नहीं है। वे सृष्टि को क्रमिक विकास की देन मानते हैं। ईश्वरीय इच्छा 'प्रकाश हो और प्रकाश हो गया' में और हिन्दुओं के 'एक से अनेक' होने में क्या फ़र्क़ है? बहरहाल दोनों में ईश्वरीय इच्छा ही उभयनिष्ठ है। जो, 'कुछ नहीं' में से यानी शून्य से सृष्टि उत्पन्न करता है। यह केवल जादुई शक्ति 'मानी' जा सकती है, कभी 'जानी' नहीं जा सकती। इस प्रकार से प्रादुर्भूत सृष्टि अभी सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि सिद्ध करने पर जो, 'माना' जाता है वह

लुप्त हो जायेगा। इसके अलावा हिन्दू धर्म ग्रन्थ सृष्टि सम्बन्धी और भी सिद्धान्त बताते हैं-जो उससे भी ज्यादा अविश्वसनीय हैं। मिसाल के तौर पर ईश्वर ने प्रजापति की रचना की। और प्रजापति ने मनुष्य और पशु-पक्षियों के मूल नमूने बनाये—जैसे कि वह कोई विशिष्ट कुम्भकार हो। फिर चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख, हस्त, कटि और पाँवों से हुई बतायी गयी है।

ईसाई और इस्लाम आदि मजहबों में ईश्वर की कल्पना काफ़ी सीधी-सादी है। एक जाती ईश्वर की कल्पना बनिस्बत एक काल्पनिक ईश्वर के काफ़ी आसान है। काल्पनिक ईश्वर प्राचीन धर्मों की विशिष्टता है। बहुदेववाद से एक देववाद में आने तक उन्हें खासी लम्बी अवधि पार करनी पड़ी। उन्होंने निगूढ़ता को न त्याग कर चिपकाये रखना ज्यादा उचित समझा और पुरोहिती प्रथा को बढ़ावा दिया। प्राचीन मिश्र, बेबीलोन और हिन्दुओं के धर्म इसी श्रेणी में आते हैं। यह सभी धर्म प्रारम्भिक सृष्टि को 'कुछ नहीं' में से यानी शून्य से उत्पन्न बताते हैं। इस निरर्थक विचारधारा से, जो लगभग सभी धर्मों में कॉमन है, क्रिश्चियनिटी ने अलग तरीक़ा निकाला। जिसने हिम्मत के साथ यह विश्वास पैदा किया कि 'शून्य से सर्वव्याप्ति पैदा होती है'। यह यूनानी बुद्धिवादी विश्वास के खिलाफ था, जिसकी मान्यता थी कि शून्य में से शून्य ही निकलेगा। यानी 'कुछ नहीं' में 'कुछ' नहीं निकल सकता।

कोई भी धर्म किसी समय में एक बारगी पैदा नहीं होता, न किसी पैगम्बर द्वारा एकदम निकल पड़ता है। हर धर्म के सिद्धान्त और विश्वास एक लम्बे समय में मंज कर स्थान बनाते हैं। उन्हें सँवारने में तत्कालीन समाज का पूरा हाथ होता है। मानव विकास की धारा में धर्म किसी न किसी रूप में एक सामाजिक आवश्यकता रही है और सामाजिक घटनाओं की भाँति धर्म भी सदा परिवर्तनशील और भंगुर रहा है। कोई भी धर्म शाश्वत, अपरिवर्तनीय तथा अन्तिम सत्य पर आधारित नहीं है। सभी

धर्मों का आधार जीवन की भौतिक साज-सज्जा रहा है। इसके लिए उनके रूपों में ही यदा-कदा परिवर्तन हो जाये ऐसा नहीं है, बल्कि धर्म आमूल-चूल बदल जाते हैं। जब मनुष्य का आध्यात्मिक विकास काफ़ी ऊँचा स्तर हासिल कर लेता है तो अलौकिक शक्ति में आस्था निरर्थक साबित होती है। सार्थक ज्ञान ख़याली पुलाव और तथाकथित इलहामी ज्ञान से बढ़कर है। उससे आदमी में अपने ऊपर निर्भर होने की क्षमता बढ़ती है। फिर उसके लिये यह ज़रूरी नहीं रह जाता है कि वह किसी अलौकिक सत्ता के सहारे जीवन निर्वाह करे। पुराने यूनान के भौतिकवादी दर्शन ने आदमी को अध्यात्मवाद से आज़ाद कराने का रास्ता दिखाया था। लेकिन वह एक छोटे से मानव समूह तक सीमित रहा। तत्कालीन समाज में वह मकबूल नहीं हो पाया। फिर भी उसने बाक़ायदा स्थापित आस्था की जड़ों को हिलाया। पुरानी आस्थाओं पर आधारित नैतिकता की चूलें हिल जाने के कारण सम्बद्ध धर्मग्रन्थ अपनी उपयोगिता खो बैठे। समाज आध्यात्मिक अराजकता में खो गया। एक नया धर्म ऐतिहासिक ज़रूरत बन गया। नये धर्म की दार्शनिक नींव नये व्यक्तिवाद ने रखी। यानी पुराने सामाजिक रिश्तों के समाप्त होने से जो स्थिति उत्पन्न हुई उसके सिद्धान्त और विश्वास धीरे-धीरे नये नैतिक ग्रन्थों और सामाजिक रिश्तों को शक्तिदायी रूप देने के लिए विकसित हुए।

जीवन के भौतिकवादी पहलू में परिवर्तन होने पर जीवन के वैचारिक स्तर पर भी प्रभाव पड़ता है। बाक़ायदा स्थापित सामाजिक रिश्तों में विघ्न पड़ने से पारम्परिक आस्था की नींव हिल जाती है। आदमी का ईश्वर से रिश्ता, आदमी के परस्पर रिश्तों के आधार पर तय होता है। उदाहरण के तौर पर, वेदों का प्राकृतिक धर्म या यूनानी विश्वास विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों की मूर्ति पूजा, शुरू में विकेन्द्रीकृत आदिम जातियों के धर्म थे। धीरे-धीरे राजनैतिक संस्थाओं द्वारा केन्द्रीकृत राज्य स्थापित करने की कोशिश में, वैचारिक मुक्ति के रूप में एकेश्वरवाद का विकास

हुआ। विभिन्न लौकिक शक्तिसम्पन्न देवताओं की दमकदार कतार को पूजना-आदिम लोकतन्त्रीय व्यक्ति की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति थी। जब आदिम कबीलों के जनतन्त्रों को तोड़कर बड़े राज्यों का निर्माण शुरू हुआ तो एक सुप्रीम गॉड को स्वर्ग में बिठाना इस वास्ते ज़रूरी हो गया कि वह पृथ्वी के सुप्रीम-लार्डों को नैतिक आधार दे सके।

बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर जाना समाज में व्याप्त अराजकता की तीव्रता पर मुनसिर करता है। ऐसा भी हो सकता है कि पुराने धर्म और पूजा पद्धति से मुकम्मल नाता तोड़कर परिवर्तन लाया जाए। या बहुदेववाद की भूमि से धीरे-धीरे एकेश्वरवाद की कल्पना विकसित की जाये—जर्जर प्राचीन को तोड़ने के लिये नहीं बल्कि उसे रोके रहने के लिये या दोनों के बीच एक समझौते के रूप में। पहली प्रक्रिया सामाजिक क्रान्ति कहलायेगी जिसमें पुरानी पुरोहिती प्रथा को पारम्परिक पद से खदेड़ कर आध्यात्मिक अगुआकारी आम जनता को सौंप दी जाती है। दूसरे क़िस्म की प्रक्रिया उस समय रूप लेती है जब समाज में निरन्तर स्थिरता बनी रहती है और इस स्थिरता में सामाजिक अराजकता व्याप्त हो जाती है, पुराना सामाजिक ढाँचा टूट जाता है लेकिन उस सीमा तक नहीं कि आदमी को एकदम निराशा के गर्त में फेंक दिया जाये। इस तरह की क्रान्ति और संघर्ष के लिये इच्छा-शक्ति कमज़ोरी और रुकावट होती है। फिर भी सामाजिक ढाँचे के टूटने से जीवन में कष्ट और मुसीबतें बढ़ जाती हैं और पारम्परिक देवों से दुःख निवारण की अपील बेहतर हो जाती है। युगों पुराना विश्वास कमज़ोर पड़ने लगता है। पुरोहितों की पोज़ीशन और पावर की चूलें हिल जाती हैं, गो कि खुलम-खुल्ला उन्हें कोई चुनौती नहीं देता और पुरोहिती वर्ग अपनी नई शक्ति और विशिष्टता प्राप्त करने की तलाश जारी कर देता है। उनकी स्थापित योग्यता और वैश्विक सम्प्रेषण शक्ति का जाँचहीन दम्भ, जिसके कि देवता भी मोहताज रहते हैं, आम लोगों

की पहुँच से बाहर होता है। अपने पुश्तैनी धार्मिक आचरण के बल पर वे शक्तिसम्पन्न होने के लिये प्रयत्नरत हो जाते हैं।

बहुदेववाद से विकसित रहस्यवादी सम्प्रदाय की धार्मिक प्रक्रिया का जन्म प्राचीन भारत, मिश्र और असीरिया में हुआ। वेदों का एकेश्वरवाद, जिसका विकास उपनिषदों की कहानियों में ढूँढ़ा जा सकता है, ब्राह्मणों की रचनाएँ हैं। वे पुरोहिती श्रेष्ठता के अन्तर्गत समाज को सुदृढ़ करने की शक्ति स्रोत बनीं ये कहानियाँ वेदकालीन प्राकृतिक धर्म को, जो आदिम समाज के गिरते हुए ढाँचे पर अपनी आंशिक पकड़ ढीली कर चुका था, हटा नहीं पायी क्योंकि वे स्थापित और शास्त्रोक्त पूजा पद्धति के खिलाफ नहीं लगीं।

इसलिये 'प्रथम कारण' की कल्पना विश्व की आत्मचालित शक्ति इस्लाम या क्रिश्चियनिटी की तरह एकेश्वरवादी आस्था की दार्शनिक भूमि नहीं बन पायी। वह एक क़िस्म से रहस्यवादी कल्ट (धार्मिक विश्वास) में विकसित हुई जो केवल पुरोहित वर्ग तक सीमित रही और फलस्वरूप एक पुरोहिती समाज तन्त्र सुदृढ़ हुआ। जो भी पुरोहिती में खोया था उससे ज्यादा उन्होंने विश्व के रहस्यों तक पहुँचने की शक्ति बताकर अर्जित कर लिया। अलौकिक विश्व शक्ति की कल्पना ने प्राकृतिक धर्म के अविश्वसनीय देवताओं को नकारा नहीं, बल्कि जाँचहीन दैवी-इच्छा-सिद्धान्त ने उन्हें उनकी हैसियत फिर लौटा दी। उनके त्याग और बलिदान कर पाने की असफलता को कर्म सिद्धान्त से समझा दिया गया। यह संसार, दैवी इच्छा के अधीन है, केवल उसकी सनक के अलावा कोई क़ानून नहीं है और वह मनुष्य द्वारा कभी जाना नहीं जा सकता। कर्म सिद्धान्त में समाहित स्वतन्त्र इच्छा और पूर्ण दैवी शासन के अजूबा मेल ने आदमी को पुराने विश्वास, पूजा पद्धति और शासन सम्पन्न विधानों में जकड़े रखा। साथ ही यह भी कहा गया है कि वो अपने किसी गुण या कर्म के बदले में किसी फल की इच्छा नहीं कर सकते।

इस प्रकार एकेश्वरवादी रहस्यात्मक हवाई ढाँचा मरे हुए प्राकृतिक धर्म की जड़ में पनपाया गया और नये कल्ट की शक्ति पर सुरक्षित रखा गया। उसे असंख्य अशिष्ट लोगों की आस्था के लिये उचित बताया गया। यह पुरोहिती राज्य के हाथों में नये हथियार के रूप में पैदा हुआ। उसने डगमगायी हुयी पुरानी मूर्तियों को फिर से मजबूत किया। ऐसे बहुदेववाद को स्थापित किया गया जो गिने-चुने ब्राह्मणों की पहुँच तक ही सीमित रहा। क्रिश्चियन एकेश्वरवाद एक बहुत लम्बी अवधि पार करके विकसित हुआ।

यह पूर्ण सामाजिक पुनर्रचना के रूप में क्यों सामने आया? यह नयी सामाजिक दशा को सुधारने के लिये वैचारिक अभिव्यक्ति के रूप में अधिकांश पीड़ित जनता के द्वारा अपनाया गया। इस एकेश्वरवाद की ईजाद एक पर्सनल गॉड की कल्पना में हुई। एक कल्पना जो हर आम व खास की दिमाग़ी पहुँच के भीतर थी। एकाएक लोकतान्त्रिक धर्म बना, जिसमें एक अदना पुजारी और विश्व के पूर्ण नियन्ता के बीच जाती रिश्ता क़ायम था। पुराने सामाजिक ढाँचे को तोड़ कर फेंक दिया गया। पुराने रीति रिवाज, पूजा पद्धति और उसके गॉड के बीच बिचौलियों की संदिग्ध परिकल्पना थी, उन्हें दरकिनार कर सामाजिक क्रान्ति लायी गयी।

क्रिश्चियनिटी पहले नाइंसाफी और ताड़ना के खिलाफ जन साधारण के संघर्ष के रूप में आयी। लेकिन तत्कालीन पीड़ित जनता ऐसी दशा को प्राप्त न थी कि वह ताड़ना और नाइंसाफी के खिलाफ लड़ पाने के योग्य हो। इसलिये संघर्ष धार्मिक रूप में मुखर हुआ। नया सामाजिक ढाँचा मनुष्य द्वारा न बन कर सर्वशक्तिमान ईश्वर द्वारा निर्मित बताया गया। उसे इंसाफ की मूर्ति माना गया, जो भ्रष्ट अमीर को सजा और गुणवान ग़रीब को इनाम दे सकता था। आदमी के सामाजिक अस्तित्व की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर सर्वशक्तिमान की कल्पना की गयी।

इसलिये ईश्वर (गॉड) को केवल अलौकिक कल्पना न मान कर एक ठोस आधार दिया गया। उसमें आदमी के सभी गुण समाहित किये गये- लेकिन असीमित मात्रा में, जिससे कि कुछ भी ऐसा न जाये जो उसके क़ाबू के बाहर हो।

ईसाई, यहूदी और इस्लामी गॉड प्रगतिवादी शक्तियों के संघर्ष का नतीजा था जबकि हिन्दुओं की सर्वशक्तिमान की कल्पना एक ऐसी गुणहीन अवस्था है जो एक ओर सामाजिक यथास्थिति को क़ायम रखने में और दूसरी ओर सामाजिक सुधार के लिये किसी भी संघर्ष को हतोत्साहित करती रही। क्रिश्चियन पर्सनल गॉड की विचारधारा के पीछे यहूदी विचार प्रणाली काम कर रही है। इसी प्रकार मसीहा के अवतरण के मूल में यहूदी विचारधारा है। दूसरी ओर जो ज़िद्दी धार्मिक ढाँचा बाद में इंसाफी गॉड और मसीहा के लिये बनाया गया, उसकी जड़ में यूनानी दर्शन से हट कर लौकिक विचारधारा है। क्रिश्चियनिटी का युद्धरत क्रान्तिकारी स्वभाव भी यहूदी परम्परा की देन है जो पीड़ित जनता की आज़ादी के लिये संघर्षरत थे तथा क्रिश्चियनिटी की कथित त्याग वृत्ति और दीनता, जो पहले क्रिश्चियनिटी में जानी नहीं गयी, ग्रीक (स्टोइक) सभ्यता से ली गयी जो प्रकारान्तर से सामाजिक तबाही के साथ पैदा हुई थी। उस भावना की जड़ व्यक्तिवादी सोफिस्ट दर्शन में ढूँढ़ी जा सकती है जो रईसों की जमात, जिसमें स्पार्टा अगुआकार था, द्वारा गहरी गणतन्त्रों की आज़ादी खत्म करने के खिलाफ लोकतन्त्र के विरोध में प्रतिध्वनित हुआ था।

क्रिश्चियन धर्म की सादगी की भाव-भूमि एक तरफ़ प्लेटो, अरस्तू और स्टोइक्स के विचारों से जुड़ती है, तो दूसरी तरफ़ वह बहुत ही पेचीदा धार्मिक रूढ़ियों से जब कि बाईबिल की कहानियाँ उतनी ज्यादा आदिम और अविश्वनीय नहीं हैं जितनी वैदिक और उपनिषदों की—या फिर अन्य हिन्दू माइथोलोजी की भद्दी और अशिष्ट गल्पें। क्रिश्चियन धर्म की

दार्शनिक नींव और उसका धार्मिक ढाँचा अध्यात्मवादी अपढ़ हिन्दू बुद्धिवादियों की जानकारी से कहीं ज्यादा मजबूत और जटिल है। पश्चिमी सभ्यता, जो आज भी काफ़ी हद तक क्रिश्चियन नैतिक सिद्धान्तों और आध्यात्मिक गहनता से ओतप्रोत है, पर दार्शनिक अर्थों में भौतिकवादी लाँछन नहीं लगाया जा सकता। यूरोप हमेशा, आज भी, अपने धर्म के प्रति ईमानदार रहा है। उसी तरह से जैसे भारत अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर दृढ़ है। दोनों अवस्थाओं में आध्यात्मिक सिद्धान्त शर्तिया तौर पर समान हैं। कोई कारण नहीं कि एक के मामले में गिरावट मानी जाय और दूसरे में अपनी शुद्धता बरकरार रखी है, यह माना जाये। दोनों धर्मों में अपनी ऐतिहासिक उपयोगिता चुक जाने के बाद एक ज़रूरी गिरावट आयी है। यूरोप के बारे में एक नये क़िस्म का विचार विकसित हुआ है, वह अध्यात्मवादी शक्ति से टक्कर लेना और उसकी जगह पर मानव मूल्यों से सुसज्जित प्रगतिशील विचारों की स्थापना करना। लम्बे संघर्ष के फलस्वरूप पुराना अध्यात्मवाद यानी दार्शनिक धोखाधड़ी, बुद्धिवादी शब्दावली और अर्ध-वैज्ञानिक धन्धेबाजी जबरदस्ती तौर पर हटाया गया है।

भारत में धार्मिक विचारधारा ने अपने सांस्कृतिक दबाव को, उसकी उपयोगिता खत्म हो जाने के बाद भी जारी रखा है। बहुवैज्ञानिक ज्ञान के प्रादुर्भाव से भी वह प्रभावित नहीं हुआ, न अध्यात्मवाद के खुले खजाने की धज्जियाँ उड़ायी गयीं। न ही उसे बौद्धिक बनाने के ज़रूरी प्रयत्न किये, जिससे वह बदलते हुए हालात के मुताबिक अपने को ढाल सकता और उसका अनुपयोगी अंश उस प्रक्रिया में भस्मीभूत हो जाता। धार्मिक विचारधारा के लम्बे समय तक हावी रहने का नतीजा यह हुआ कि समाज जहाँ का तहाँ रुक गया। पश्चिम की मृत भौतिकवादी सभ्यता भारत को अग्राह्य है और वह अपनी अध्यात्मवादी सर्व औषधि से उनकी मदद करना चाहता है जो उसने सदियों की सामाजिक प्रगति रोककर

सुरक्षित रखी है। जिन्हें भारतीय समाज पर गर्व है, उन्हें इस उद्देश्य के लिये आगे बढ़ना चहिये। अटका हुआ भारतीय पुनर्निर्माण उन कथित बुजुर्गों के हाथों सम्पन्न नहीं होगा जो जाने-अनजाने प्रतिक्रियावाद की हिमायत करते हैं। भारतीय रिनेसाँ का प्रकाश पुंज केवल क्रान्तिकारी दर्शन के झण्डे के नीचे ही प्रस्फुटित होगा जो अध्यात्मवादी पूर्वग्रहों से ऊपर नहीं उठ सकते, उन्हें ऐतिहासिक विवशता के अकाट्य तर्क द्वारा निकाल फेंकना होगा, वे चाहे कितने ही महान क्यों न लगते हों।

पश्चिमी सभ्यता का धार्मिक सोच शुरू-शुरू में किसी हद तक भारत से प्रभावित हुआ होगा जैसे वह प्रारम्भिक दिनों में दूसरे पूर्वी देशों—मिश्र, इजराइल, असीरिया और अरब से हुआ था। इसीलिये यूरोप में पनपी आधुनिक सभ्यता पूरे विश्व की मानव जाति की साझी विरासत है। उसने सभी संस्कृतियों के सार्थक तत्त्व लेने में उत्साह दिखाया। ईसाई धर्म का ढाँचा तीन मुख्य खम्भों पर आधारित है। हैब्रिट एकेश्वरवादी नैतिकता, ग्रीक वैचारिक प्रक्रिया और पूर्वी सर्वदेववादी रहस्यवाद। शुरू-शुरू में यहूदी नैतिक सिद्धान्त और ईश्वर की कल्पना इसके मुख्य स्तम्भ थे।

बाईबिल वह पुस्तक है जो जन साधारण के लिये बनायी गयी थी। उसमें संक्षिप्त और लोकप्रिय भाषा को चुना गया तथा अध्यात्मवादी स्वर के साथ उच्च नैतिक स्तर क़ायम किया गया। बाईबिल को पढ़ते समय एक ऐतिहासिक तथ्य दिमाग़ में रखना अति आवश्यक है। गॉस्पेल्स शुरू में क्रान्तिकारी संघर्ष के लिये पढ़ायी गयी जिससे आम आदमी में रोमन सत्ताधारियों के विरुद्ध विद्रोह करने का भाव जगाया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बाईबिल की भाषा ऐसी सरल बनायी गयी जो आसानी से आम आदमी की समझ में आ सके। प्रारम्भ में गॉस्पेल्स को सिखाने वाले लोग आम लोगों में से ही लिये जाते थे—बल्कि कुछ तो ऐसे थे जो बहुत ही मामूली शैक्षिक ज्ञान रखते थे। उस ऐतिहासिक

परिप्रेक्ष्य में बाईबिल के तथ्य अत्यधिक उच्च स्थान रखते हैं। क्रिश्चियनिटी की नींव डालने वालों ने दो हजार वर्ष पहले असली गाँधीवाद की शिक्षा दी जो आज की दुनिया को बचाने का स्वांग रचता है। फ़र्क़ सिर्फ़ उतना है कि उन दिनों उसके नैतिक सिद्धान्त एक क्रान्तिकारी महत्त्व रखते थे जबकि आज वे बेजान, तुच्छ, प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों के रूप में हानिप्रद लग रहे हैं।

हैब्रिड पैगम्बरों ने क्रिश्चियनिटी की शुरूआत क्रान्तिकारी आन्दोलन के तौर पर की थी। सभी ने रईसी की खिलाफत की, फकीरी का जीवन जिया, त्याग की शिक्षा दी, ग़रीबी की तारीफ की और एक मसीहा के अवतार की घोषणा की, जो इस संसार को आकर बचायेगा। उनका मसीही सिद्धान्त ठीक गीता के अवतार की तरह है। उदाहरण के लिये अमोस ने आवेग में कहा—जो हिंसा और राहजनी में मशगूल हैं, सही काम नहीं करते। इस क्रोधपूर्ण वक्तव्य में मौजूद क्रान्तिकारी महत्त्वाकाँक्षा गाँधीवाद में नहीं मिलेगी—जो कि हिन्दू संस्कृति के हर मर्ज का इलाज करती है। हैब्रिड शिक्षकों ने हिंसा को एकदम नकारा नहीं, उन्होंने हिंसा को वहाँ तक नकारा जहाँ तक वह ग़रीबों को कष्ट देने का हथियार बन चुकी थी। उन्होंने दृढ़ता के साथ घोषित किया कि नैतिक सिद्धान्तों यानी भलाई और इंसाफ आदि का आचरण ऊपरी वर्ग की आदत नहीं है क्योंकि उन लोगों ने अपने को शक्तिशाली और आशाइश पसन्द बनाने के लिये हिंसा और राहजनी का रास्ता अपनाया है। इससे उल्टे भारतीय अध्यात्मवादी संस्कृति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सांसारिक सुख, सम्पूर्ण जीवन, महानता और शक्तिशाली होना सब ईश्वर की देन है। गाँधीवाद के नैतिक सिद्धान्त यानी अध्यात्मवादी संस्कृति शोषित और पीड़ित को समझाती है कि वह अपने मुकद्दर के साथ समझौता करे। प्रकारान्तर से गाँधीवाद कष्टमय जीवन भोगने, बलिदान और त्याग करने तथा ग़रीबी ओढ़े रहने को बाध्य करता है।

अमोस ने आगे कहा—'अच्छाई ढूँढ़ो, बुराई से घृणा करो और अच्छाई से प्यार करो।' अमोस की यह आवाज अकेली नहीं थी बल्कि वह हैब्रिड पैगम्बरों की एक लम्बी कतार में से एक था जिसने समानता के आधार पर नैतिक नियमों की शिक्षा दी जिससे आगे चलकर क्रिश्चियनिटी की नींव पड़ी। और क्रिश्चियनिटी आज तक पश्चिमी समाज पर अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव जमाये हुए है। अगर क्रिश्चियनिटी अपना प्रारम्भिक क्रान्तिकारी कलेवर ऊपरी वर्ग के संरक्षण में त्याग देती और समय पाकर नाम और रूप में परिवर्तन कर लेती तो हिन्दू धर्म और दर्शन दोनों पर ऐतिहासिक प्रभाव पड़ता। क्रिश्चियनिटी समय के प्रभाव से बच कर अपनी आदिम पवित्रता को क़ायम रख पाने का दावा न कर पाती। दोनों अपनी ऐतिहासिक उपयोगिता खो बैठते। इस प्रकार दोनों में से कोई भी मानव प्रगति के लिये उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता।

क्रिश्चियनिटी के नैतिक और सामाजिक सिद्धान्त, 'सर्मन ऑन द माउण्ट' यानी पर्वतीय उपदेश और संत जान के इलहाम में समावेशित हैं। एक जगह इस पीड़ापूर्ण पृथ्वी पर अवतार द्वारा सर्वोपरि ईश्वर का सत्य कहलाया गया है और दूसरी जगह यह सत्य एक भक्त द्वारा उजागर किया गया है। टेन कमान्डमेन्ट्स यानी 10 (दस) उपदेश भी उसी प्रकार दैवी सत्य का प्रतिबिम्ब है क्योंकि वे भी प्रकाश के रूप में सामने आये। 'सर्मन ऑन द माउण्ट' शिक्षा देते हैं कि जो ग़रीब हैं वे सुखी रहेंगे, जो कमज़ोर हैं, दलित हैं उन्हीं को आशीर्वाद प्राप्त होगा, जो भुक्तभोगी हैं वे ही सुखी होंगे, जो हृदय से स्वच्छ हैं वे ही सुखी होंगे। अपने शत्रुओं से प्यार करो, तुम पूर्ण बनने की कोशिश करो जैसे स्वर्ग में तुम्हारा पिता। पृथ्वी पर धन जमा न करो। शायद ही कोई व्यक्ति यह दावा करेगा कि हिन्दू संस्कृति और नैतिकता के उच्चादर्श, त्याग और बलिदान तथा मरणोपरान्त जीवन की कोरी कल्पना क्रिश्चियनिटी के ऊपर है। फिर पश्चिमी समाज तुच्छ गाँधीवाद के

पीछे क्यों पड़ा रहे जब कि एक साधारण क्रिश्चियन पादरी आदर्शपूर्ण नैतिक शिक्षा आसानी से दे सकता है।

अगर क्रिश्चियनिटी पतित पश्चिमी जगत् को नहीं बचा सकती तो गाँधीवाद कतई नहीं बचा सकता। अगर क्रिश्चियनिटी का नैतिक रहस्यवाद मध्ययुगीन तथा आधुनिक सभ्यता के फूहड़ भौतिकवाद को अध्यात्मवाद में नहीं बदल सकता तो गाँधीवादी शिक्षा तर्क-सम्मत रूप से उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। अगर क्रिश्चियन पवित्रता दुनियादारी और वैज्ञानिक ज्ञान से उत्पन्न भ्रष्टाचार से पश्चिम को दूर नहीं रख सकती तो भारत का अध्यात्मवादी संदेश उसमें कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता चाहे वेदान्त दर्शन को मौजूदा वैज्ञानिक थ्योरीज के समान क्यों न घोषित कर दिया जाये—बल्कि उसके लिये क्रिश्चियनिटी से भी बुरा भविष्य मौजूद है। वास्तव में क्रिश्चियनिटी की हार और पश्चिमी आदर्शवादी दर्शन की हार एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य पेश करती है। वह यह कि अध्यात्मवाद बतौर एक विश्व शक्ति के फेल हो चुका हो। पश्चिमी आदर्शवादी दर्शन सर्वेश्वर पर (सिप्नोजा और हीगेल) वेदान्त को कुछ भी और जोड़ने के लिये नहीं छोड़ता। अपनी पूर्णता को प्राप्त करने के बाद वह अपने ही अन्तःतर्कों द्वारा विलुप्त हो गया। उसके सभी सार्थक तत्त्व भी भौतिकवादी दर्शन में आत्मसात कर लिये गये। इसलिये प्राचीन हिन्दू संस्कृति ने भी मानवता की विरासत में अपना दाय पूरा कर लिया है। जो बड़ी शान के साथ 'आज' 'भारत को विश्व का संदेश' के रूप में प्रदर्शित किया जाता है वह इतिहास द्वारा उपेक्षित एक सूखा कंकाल और खोखला ढाँचा मात्र है। इस मृत ढाँचे को पीट कर हम उस शक्ति का निरादर करते हैं कि आत्मा सम्पूर्ण मानव इतिहास की सामूहिक सृष्टि के अभिन्न अंग के रूप में वास कर सकती है। यह हमारी प्राचीन संस्कृति का मूल्यांकन करने की अयोग्यता या असमर्थता प्रदर्शित करती है। भारतीय संस्कृति का शोर मचाने वाले अपने ऊपर लगे आरोप

समझने में असमर्थ हैं। फलतः उस पर प्रतिक्रियावादी आवरण चढ़ाकर उसका अपमान करते हैं।

'अगर एक आदमी ने अपनी आत्मा बेचकर पूरी दुनिया का सुख बटोर भी लिया तो उसे क्या मिला।' यह क्रिश्चियन गॉस्पेल का मूल मन्त्र है। आत्मा की मुक्ति केवल एक उच्चादर्श नहीं है बल्कि उसे जीवन की अभिरुचि और चिन्ता के रूप में लिया गया है। ऐसे सिद्धान्त पर आधारित एक धर्म को बचकाना और असत्य कह कर नकारा नहीं जा सकता है। ऐसी दशा में वह कथित विशुद्ध सनातन धर्म की बराबरी में बैठता है। क्रिश्चियनिटी ही केवल ऐसा धर्म है जिसका हर तरफ़ से इम्तिहान लिया जा चुका है। उसका पूरी मेहनत के साथ इतिहास खोजा गया है और गल्पपूर्ण कहानियों से मुक्ति दिलायी गयी है। इसके सिद्धान्तों की बड़ी बारीकी से व्याख्या की गयी है जिससे उसे सामाजिक अर्थ दिया जा सके। 'क्रिश्चियनिटी ने हर धर्म से अलग अपनी पहचान बनायी है। दूसरा कोई ऐसा धर्म नहीं है जो मानवता की मुक्ति को इतना ज्यादा महत्त्व देता हो। मुक्ति के माने दुनियावी खुशहाली और भौतिक उन्नति नहीं। क्रिश्चियन धर्म मानता है कि दुनियावी सुख आदमी को ईश्वर से दूर करता है, जबकि बदक़िस्मती, कष्ट उसे ईश्वर के नजदीक पहुँचाते हैं।' क्रिश्चियनिटी के कट्टर विरोधी पिउर बैंक के इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है। इसके अलावा इसने क्रिश्चियनिटी को अन्य धर्मों से अलग करने वाले सामाजिक कारणों को भी उजागर किया है। वह किसी जाति या व्यक्ति के विशिष्ट विवेक का रहस्यात्मक नतीजा नहीं है। वह उन सामाजिक शर्तों का नतीजा है जो ऐसा ही नतीजा देगी, चाहे जहाँ पायी जाये। क्या कोई भारतीय देशभक्त कह सकता है पिउर बैंक का बयान हिन्दू धर्म की जानकारी नहीं रखता। हम इस दलील में पड़ना नहीं चाहते अगर हिन्दू या बौद्ध उसी प्रकार अपने विशिष्ट गुण रखते हैं तो इससे उनका जातीय विवेक साबित नहीं होता। उससे मात्र यही सिद्ध होता है

कि जिन सामाजिक शर्तों ने क्रिश्चियनिटी को विशिष्टता प्रदान की वही शर्तें भारत में भी मौजूद थीं—बल्कि उससे अधिक मात्रा में।

भोगवाद से विरक्ति के कारण सांसारिकता का त्याग क्रिश्चियन धर्म की विशेषता रही है। इस विशिष्टता को यहाँ तक महत्त्व दिया गया है कि जीवन की मामूली ज़रूरत की चीज़ों को नकार दिया है। इस मनःस्थिति के पीछे आध्यात्मिकता की भावना को सर्वोपरि माना जाता है क्योंकि वह भौतिकता से धूमिल हो जाती है। इसलिए भौतिक बन्धनों को तोड़कर जीवन के महानतम आदर्श आध्यात्मिकता की ओर जाना इष्ट माना गया है।

'क्रिश्चियन संन्यासियों ने जीवन के हर मोह और कर्त्तव्य को त्याग दिया। इन्होंने पवित्रता का आवरण पहना। वैवाहिक जीवन से मुख मोड़ा। मस्तिष्क और मन की ललक विकार समझे गये। सहस्रों संन्यासी भोगवादी दुनिया से दूर एकान्तवास को चले गये। सांसारिक सुख-सुविधा को तिलांजलि दे दी और जिस दुनिया को उन्होंने ठुकराया बदले में उसी ने उनको इज्जत बख़्शी। सबसे ज्यादा प्रसिद्धि उसके दैवी दर्शन को मिली जो ग्रीस के सर्वगुण सम्पन्न सम्प्रदाय से भी आगे निकल गयी—(गिब्बन इन डिकलाइन एण्ड फॉल रोमन एम्पायर)। क्रिश्चियनिटी ने सांसारिक भोग के प्रति नकारात्मक रुझान हैब्रिउ पैगम्बरों, यूनानी सैनिक और स्टोइक दार्शनिकों से लिया। जिन यहूदी पैगम्बरों ने मसीही अवतार की घोषणा की वे सभी संन्यासी थे। उन्होंने दुनिया के सुखों को सब्जबाग़, विकार और क्षणभंगुर कह कर टाल दिया। यहूदी सम्प्रदायों से त्याग और संन्यास का सबक सीख कर गुण सम्पन्न क्रिश्चियन अगुआकारों ने अच्छाई, भलाई, ईश्वरीयता और पवित्रता के पाठ पढ़ाये।

'सिनिको' का मूल सिद्धान्त था—'सुख भोग मनुष्य के योग्य नहीं है'। उसके लिये और भी तमाम उच्च विशुद्ध वस्तुएँ खोजने को हैं। उन्होंने सांसारिक सुखों को पूर्ण तिलांजलि देने को कहा और ऐन्द्रिक सुखों पर

अंकुश लगाने को कहा जो वास्तविक सुख की राह में अड़चन का काम करते हैं। इस सम्प्रदाय का अधिष्ठाता ऐन्टीथेनेस चिल्लाया, 'बजाय इसके कि मैं इन्द्रियों का दास बनूँ, अच्छा है मैं पागल हो जाऊँ।' दुनिया के इतिहास में सिनिक दार्शनिकों के ऐन्द्रिक सुख त्याग के आगे मुश्किल से ही दूसरे धर्म ने बाजी जीती होगी। इस सम्प्रदाय का प्रमुख और प्रसिद्ध व्यक्ति डायोजेनीज था। जिसने कहा—विशुद्ध जीवन की शर्त है कि इस नश्वर शरीर को तिल-तिल कर मिटा दिया जाये। जितनी जल्दी शरीर नष्ट करने की दिशा में अग्रसर होंगे उतना ही शीघ्र हम सच्चरित्र और सदाचार से परिपूर्ण होंगे। शरीर को अधम, अपवित्र, तुच्छ और निम्न श्रेणी की वस्तु समझा गया।

स्टोइक ने भी सांसारिक जीवन को निरस्त कर एक रहस्यवादी उत्तम आदर्श के लिए जीना पसन्द किया। उनके दर्शन के अनुसार गुणी व्यक्ति की निशानी है सांसारिक सुखों से विरक्ति, क्लेश और मृत्यु। इस संसार की सभी सुख-सुविधाएँ अर्थहीन और व्यर्थ हैं। सुख भौतिक जगत् के भोग में नहीं बल्कि संयम और सदाचार में निहित है। वे इस संसार की अच्छाई और बुराई दोनों के प्रति उदासीन थे। क्योंकि उनकी निगाह में मौजूदा भ्रमजाल में मुग्ध होने की बजाय दूसरे जीवन की तैयारी कहीं-कहीं ज्यादा अर्थपूर्ण है। यह सिद्धान्त क्रिश्चियन युग की पहली सदी में पूरे रोमन साम्राज्य में व्याप्त हो गये। पुराना सामाजिक ढाँचा टूटने से केवल निराश्रित, जन साधारण और निर्धनों पर ही इन सिद्धान्तों का प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि त्याग और बलिदान की भावना और भोग से घृणा भाव ऊपरी वर्ग में भी घुसपैठ कर गया। तत्कालीन बुद्धिवादी नेता सेलेस्ट, होरेस, वर्जिल और सेनेका आदि सभी कट्टर स्टोइक थे। इन मूर्तिपूजकों से दीक्षित होकर क्रिश्चियनिटी एक क़दम और आगे निकल गयी।

इस दैवी दर्शन (फिलासफी) के प्रवक्ताओं ने एक विशुद्ध और पूर्णतन्त्र स्थापित करने की इच्छा की। उन्होंने उन पैगम्बरों के पदचिह्नों पर

चलना शुरू किया जो रेगिस्तान में जाकर रिटायर हो गये और ध्यानमग्न हो भक्ति मार्ग अपनाने का निश्चय किया। हिन्दू धार्मिक सभ्यता का विश्वास इसके आगे नहीं जाता है और वर्णाश्रम धर्म इससे कहीं ज्यादा पीछे है। जिसके अनुसार मनुष्य को सांसारिक सुख भोग चुकने के बाद रिटायर हो जाना चाहिये। क्योंकि तब उसके ऐन्द्रिक तंतु शिथिल पड़ जाते हैं। क्रिश्चियनिटी सांसारिक सुख-सुविधाओं को बटोरने और उनके इस्तेमाल सम्बन्धी कोई समझौता नहीं करती और इसे आत्ममुक्ति की राह में रोड़े समझती है। जब एक अमीर आदमी ने क्राइस्ट का यह कहना कि 'तुम अपनी सम्पत्ति दान देकर ख़ुद एक भिखारी बन कर भिक्षा माँग कर खाओ' नहीं माना तो उन्होंने आर्तनाद किया 'भला दौलतमन्द लोग स्वर्ग में कैसे घूम सकते हैं। एक ऊँट के लिए सुई के छेद से निकल जाना आसान है लेकिन एक धनवान व्यक्ति स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता'। इसके माने हैं कि दुनियावी धन दौलत अध्यात्मवादी आदर्शों से कतई मेल नहीं खाते। इसलिये यदि फूहड़ भौतिकवादी बीमारी का इलाज ढूँढ़ना है तो पश्चिम उसका इलाज ख़ुद अपने ही धर्म में ढूँढ़ सकता है। 'उसे पूर्व से आध्यात्मिक संदेश लेने का इन्तज़ार करने की ज़रूरत नहीं है। खासकर तब जब बनावटी वैद्य ख़ुद अपना ही इलाज करने में असमर्थ है।'

पश्चिम वालों को, बजाय गाँधीवादी धर्म-चक्र रूपी सर्वौषधि की ख्वाहिश करने के, कहीं ज्यादा अच्छा होगा कि वे अपने पैगम्बरों का ही अनुसरण करें। क्योंकि क्राइस्ट ने गर्जना की थी 'ओ धन वालो, अब जाओ और अपने ऊपर आने वाली मुसीबतों के लिये बैठ कर रोओ। तुम्हारा धन भ्रष्ट है और तुम्हारे गहनों में कीड़ी लगी है। तुम्हारा सोना-चांदी सब कलंकित है और उनमें से शेष तुम्हारे विरुद्ध गवाही में पेश होंगे। तुमने पृथ्वी पर सुखमय जीवन बिताया है और विलासी और मर्यादाहीन हो रहे हो। तुमने सही लोगों को ललकारा और कत्ल

किया है।' फूहड़ भौतिकवाद को इससे ज्यादा और किस रीति से दोषी ठहराया जा सकता है?

दैवी इलहाम होने के बाद सन्त जॉन ने भविष्यवाणी की कि शक्ति और धन के घमंड में चूर मनुष्यता को चूसने वाला रोम बरबाद हो जायेगा। उसने कहा था कि दुनिया में मौजूद मांसल जिस्म और सुन्दर नेत्र और जीवन का दर्प यह सब पिता का दिया हुआ नहीं है। यह सब सांसारिक है और संसार क्षणभंगुर है। लेकिन जो भी लोग भोगी हैं ईश्वर की इच्छा उनके कारनामों को देखती है।

ज़ाहिर है कि पश्चिमी क्रिश्चियन जगत् को एक गाँधी का सहारा लेने की ज़रूरत नहीं है। न उनको 'स्वैच्छिक ग़रीबी' का मन्त्र सीखने की ज़रूरत है और न ही अमीरों को ही यह सिखाने की ज़रूरत है कि वे भद्र और पवित्र बनें यानी भारतीय विशिष्ट विवेक की तर्क पर सम्पत्ति के अधिकारों का अध्यात्मीकरण करें।

सन् 1931 में अपनी अन्तिम लन्दन यात्रा के दौरान फ्राकिंसनस्टडी सर्किल में बोलते हुए गाँधी जी ने कहा था, 'वालन्ट्री पावर्टी यानी स्वेच्छा से ग़रीबी अख्तियारने का अर्थ सभी को धनवान बनाना असम्भव है। लेकिन अभाव में साझीदार हो सकते हैं। और भौतिक सुविधाओं को जितना कम बटोरा जायेगा उतना ही उनके प्रति मोह कम होगा। यदि धनवान स्वैच्छिक ग़रीबी को अख्तियार करने को राजी हो जाये तो तमाम महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्यायें आसानी से सुलझायी जा सकती हैं।'

यह स्वैच्छिक ग़रीबी का उद्देश्य, 'उल्टे बाँस बरेली को' ले जाने जैसा लगता है। गाँधीजी का संदेश उसी की एक मामूली अनुगूँज है जिसकी पश्चिमी सभ्यता के उषाकाल से दीक्षा दी जाती रही है। उदाहरण के लिये सन्त अगस्टाइन ने कहा था, 'निजी सम्पत्ति अपने में कोई बुराई नहीं है लेकिन बुराई उसके अर्जन के प्रति अन्धी दौड़ में छिपी है। सम्पत्ति को बटोरना और भौतिक सुविधाओं को अपने

ऊपर इतना हावी कर लेना कि सत्य, विवेक, धर्म, ईश्वर-प्रेम सब उसके नीचे दब जाये, यह बुरी बात है'। सन्त थामस अक्वायनस ने भी यही कहा था, 'धनवानों का दैवी कर्तव्य है कि वे उदारता से ग़रीबों की ज़रूरतें पूरी करें। क्योंकि एक के पास अपार धन होने के माने हैं कि दूसरे के पास निहायत कमी।' क्रिश्चियन विचारधारा में प्लेटो की टीचिंग्स (शिक्षा) का बहुत हाथ है। उसने कहा था—'वह समाज जिसमें न ग़रीबी है न अमीरी, सबसे उत्तम समाज कहलायेगा। क्योंकि इस प्रकार के समाज में न ग़ैर इंसाफी होगी न अपमान, न उसमें कोई झगड़े की जड़ होगी और न द्वेष। और इस तरह सभी परस्पर भले लोगों की तरह सौहार्द्र से रहेंगे।' उसने आगे कहा था, 'मैं इस सिद्धान्त को कभी नहीं मान सकता कि धनवान व्यक्ति सदैव सुखी रहता है। एक आदमी जो अच्छे कामों में पैसा ख़र्च करता है, और सही तरीक़े से धनार्जन करता है केवल उसकी ओर धनवान होने के लिये आँख नहीं उठायी जायेगी। बहुत ज्यादा धनवान होना अच्छी बात नहीं।' इसी कतार में आगे उसके शिष्य अरस्तू ने भी कहा कि केवल धन दौलत नहीं बल्कि मनुष्य में समानता लाने की अदम्य इच्छा महत्त्वपूर्ण है।

क्रिश्चियन रहस्यवाद का जनक फिलो बौद्धिक रूप से ईमानदार था। उसमें अपने विचारों को तर्कसम्मत रूप में प्रकट करने का साहस था। उसने ज्ञान और आस्था के बीच का रास्ता अख्तियार नहीं किया। उसने साफ़ तौर पर देखा कि ऐन्द्रिक ज्ञान के निरस्त होने पर संसार को समझने के सभी उपाय छोड़ देने चाहिये। रहस्यवाद संसार को न समझ पाने के बाद पैदा हुआ है। संसार को न समझ पाने और ऐन्द्रिक ज्ञान की सत्यता निरस्त करने के बाद रहस्यवाद घटना जगत् के कारण के रूप में उपस्थित होता है। इस प्रकार रहस्यवाद और विश्वास अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं और एक परम तत्त्व में आस्था—वह चाहे जिस रूप में हो—की कल्पना

की जाती है। वह प्राकृतिक घटनाओं के कारण-स्वरूप बुद्धिवादी खोज में मुकम्मल अवरोध का काम करता है। इसलिये रहस्यवाद साइंस का, दूसरे शब्दों में फिलासफी का जानी दुश्मन है।

फिलो का रहस्यवाद इतना ज्यादा विशुद्ध था कि उसने साफ़ तौर पर उसकी समानता आस्था के साथ घोषित कर दी। उसके ईश्वर की कल्पना वही थी जो हिन्दू ब्रह्म की विचारधारा है। लेकिन उसका अध्यात्मवाद विशुद्धतम था। ईश्वर मानव समझ से बाहर है। उसके अस्तित्व को जाना जा सकता है लेकिन उसका स्वभाव समझा नहीं जा सकता। क्योंकि वह एक है, पूर्ण है, विशुद्ध है, गुणरहित है और स्थिर है। हम उसके रहस्यवादी वजूद के भीतर कभी नहीं घुस सकते—हम केवल विश्वास कर सकते हैं। जगत् के रहस्यवादी पक्ष पर एक प्रंशसनीय खरा बयान। लेकिन यह बयान कभी न सुधरने वाले सन्देहशीलों को सन्तुष्ट करने में असफल रहा। जो पूछेंगे—अगर इन्द्रिय ज्ञान धोखा है, अगर बुद्धि और विवेक अविश्वसनीय है तो हम उस गॉड पर कैसे विश्वास कर लें जिसका अस्तित्व महज विश्वास के बल पर आधारित है और जिसका स्वभाव हमेशा समझ के बाहर है?

फिलो के शिष्य प्लाटिनस ने इस अवरोध को दूर किया। उसने रहस्यवाद को तर्क-वितर्क से आघात कर सन्देहशील समुदाय की आपत्ति का सामना किया। ठीक पक्के हिन्दुओं की भाँति गहन अध्यात्मवादी इस क्रिश्चियन ने घोषित किया—ईश्वर केवल हर्षोन्माद की अवस्था में महसूस किया जा सकता है यानी अपना वजूद विलीन करके ही उसे पाया जा सकता है। आस्था को वास्तविकता के स्तर पर स्थापित करने की व्यर्थ तदबीर 'सत्य' की गरिमा को भ्रमित करती है। क्योंकि अनुभव यह मान कर चलता है कि अनुभव करने वाली चेतना की मौजूदगी अति आवश्यक है। अपने वजूद को मुकम्मल रूप से विलुप्त कर देने के माने हैं अपनी चेतना को खो देना। वह मोहमुद्रा की स्टेज हो सकती है, लेकिन अनुभव

उस स्टेज में सम्भव नहीं है। मोहमुद्रा (एक्सटेसी) की अवस्था में अनुभव एक भ्रम ही है। आत्म प्रवंचना के इस आविष्कार से गूढ़ता का सिद्धान्त बेकार हो जाता है। जिस जादू से रहस्यवादी दावा करता है उसका प्लाटिनस ने खाका खींचा है।

मैं एक सीमित अस्तित्व हूँ, तो असीमित को कैसे समझ सकता हूँ। ज्यों ही वैसा करता हूँ, मैं ख़ुद असीमित हो जाता हूँ। अर्थात् मैं कतई मैं नहीं रह जाता हूँ। वह सीमित वजूद नहीं रह जाता जो अपनी चेतना आप रखता है। अगर मैं असीम का ज्ञान पा लेता हूँ—तो वह मेरी बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान नहीं है। क्योंकि बुद्धि सीमित है, एक सीमित बुद्धि निस्सीम के बारे में कभी नहीं जान सकती। असीम को सीमित द्वारा जानने का उपक्रम करना बेकार की कसरत है। यह केवल मोहमुद्रा में जाना जा सकता है। मोह मुद्रा में आत्मा, अपने भौतिक बन्धनों से आज़ाद हो जाती है। वह व्यक्तिगत चेतना से अलग हो जाती है और निस्सीम तेज में विलीन हो जाती है जिससे वह निकलती है।

बेशक परिमित निस्सीम को कभी नहीं जान सकता फिर भी वह जानने की बात करता है और यही रहस्यवाद का जादू है। जानने के लिये 'ज्ञेय' वाँछित है। लेकिन ज्ञान प्राप्त करने वाले का विलोप निस्सीम के ज्ञान की पूर्ण शर्त कहा जाता है। तो फिर बिना एक ज्ञानी के ज्ञान कैसे हो सकता है? लेकिन रहस्यवादियों की आध्यात्मिक आरामगाह में ऐसे साधारण प्रश्न दखलन्दाजी नहीं पैदा करते। वह ईश्वर की अनुभूति 'इमीजियेट प्रजेंट एक्सटेसी' यानी हर्षोन्माद में करता है। इसलिये उस अवस्था में भी द्वैत निरस्त नहीं होता। फलस्वरूप परिमित और अपरिमित के बीच जुड़ने वाली खाई बनी ही रहती है। लेकिन कहा जाता है कि हर्षोन्माद के स्तर पर आत्मा अपरिमित तेज (इंटेलीजेंस) में विलीन हो जाती है। ध्यानमग्न व्यक्ति ध्येय से अपनी समानता अख़्तियार कर लेता है। हर्षोन्माद अवस्था का यह विरोधाभाषी वर्णन उस अवस्था में कोई इजाफा

नहीं करता। अगर द्वैत को बरकरार रहना ज्ञान को असम्भव बनाता है—यानी परिमित और अपरिमित के बीच खाई बरकरार रहती है, तो ज्ञाता का ज्ञेय में विलीन होकर भी ज्ञान प्राप्ति असम्भव है। इस प्रकार हर्षोन्माद मात्र कल्पना के रूप में प्रकट होता है। प्रत्येक होने वाला ज्ञानी अपनी भूमि अपने मन मुताबिक चुन सकता है। मूर्च्छा या चित्तभ्रम में देखे गये छाया, प्रेत या 'आभास' उसके लिये सत्य हो सकते हैं लेकिन एक स्वस्थ पुरुष के लिये अहमियत नहीं रखते। यहाँ तक कि एक मरीज के लिये भी असत्य हो जाते हैं, ज्यों ही उसकी ज्ञान शून्यता या मूर्च्छा दूर होती है। हर्षोन्माद एक काल्पनिक अवस्था है जो नर्वस गड़बड़ी से पैदा होती है। उस अवस्था में देखा गया जीवन मात्र धोखा या छल है।

प्लाटिनस द्वारा स्थापित क्रिश्चियन रहस्यवाद पूरे तौर से हिन्दू फिलासफी से साम्य रखता है। अस्पष्टताएँ और अन्दरूनी विरोधाभास दोनों में बराबर मौजूद हैं। नीचे के कथन से दोनों की समानता और पक्की हो जाती है—

'ईश्वर अपनी अन्तिम अवस्था में न अस्तित्व है, न कल्पना, न स्थिर, न अस्थिर, वह मात्र अमिश्रित विशुद्ध ऐक्य हैं—सिम्पल यूनिटी। गो कि तर्कशास्त्री ईश्वर के अस्तित्व के बारे में दृढ़ता से विश्वास करते हैं, लेकिन हम उसके स्वभाव के बारे में नकारात्मक वर्णन के अलावा और कुछ नहीं कह सकते। हम उसका अस्तित्व मानने को जबरिया मजबूर हैं। यह कहना कि वह अस्तित्व और कल्पना के ऊपर है—उसे परिभाषित करना नहीं हुआ। यह तो उससे भिन्न बनाना है, जो वह नहीं है। वह क्या है, हम नहीं जानते। उसको समझने की कोशिश करना व्यर्थ है।'

सत्य को जानने के लिये क्रिश्चियनिटी भी आत्म दर्शन को महत्त्वपूर्ण सीढ़ी मानती है। वह वैज्ञानिक ज्ञान को अपूर्ण और अविश्वसनीय मानती है। वह भी सत्य की कुँजी के रूप में अन्तर्मन को, ऐन्द्रिक अनुभवों के ऊपर रखती है। एक और नव प्लेटोवादी ने शिक्षा दी है—'पहले अपने

को पहचान, जिससे तू जान सके कि तू किस स्रोत से आया है। अपने अन्दर की दैवी शक्ति को पहचान जिससे तू जान सके कि तेरी आत्मा दैवी शक्ति की एक किरण मात्र है। अपने मन को समझ फिर देख तेरे पास सम्पूर्ण ज्ञान की कुंजी होगी। जो ज्ञान तेरी आत्मा में ऊपर से आता है वह पूर्ण है, बनिस्बत उस विज्ञान के जो खोजबीन के बाद अर्जित किया जाता है।'

तीन सौ साल पहले तक पश्चिमी दर्शन उसी आध्यात्मिक परम्परा की छत्रछाया में पलता रहा और आज भी वही परम्परा क्रिश्चियनिटी के अन्दर घर किये हुए है। आधुनिक आदर्शवादी फिलासफी उसी क्रिश्चियनिटी (अध्यात्मवाद) का बौद्धिक रूप है। सांस्कृतिक अराजकताजनित तत्कालीन रहस्यवाद भी क्रिश्चियन परम्परा की देन है। लेकिन आधुनिक पश्चिमी जगत् उस क्रिश्चियनिटी से बिलकुल भिन्न है जो प्राचीन समाज की ढही हुई दीवारों से जन्मी थी। शक्तिशाली ताकतें मौजूदा सामाजिक अराजकता को जीतने के लिये प्रयत्नशील हैं। विज्ञान ने रहस्यवाद की नींव उखाड़ फेंकी है। इसलिये यूरोप का मौजूदा रहस्यवाद बुद्धिवादी जगत् में एक परदेशी आयात-सी चीज़ लगती है। लेकिन वह 'पूर्व का संदेश' नहीं है। उसकी जड़ें ख़ुद पश्चिमी संस्कृति के इतिहास में बहुत गहरे पैठी हुई हैं। उच्च हिन्दू बुद्धिवादी क्रिश्चियन पर्सनल गॉड की कल्पना का उपहास करते हैं गो कि अनेक देवमय—सर्वेश्वरवाद में गड्ड-मड्ड गोते लगाने वालों को ऐसा करना नहीं चाहिये। पर्सनल गॉड का विचार ही धर्म का मुख्य तत्त्व है और एकेश्वरवाद ही धर्म का सर्वोच्च रूप है। 'कुछ नहीं' से सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त ही धार्मिक विचारधारा का आवश्यक अंग है। 'सर्वव्यापी' विचारधारा को पूरी आज़ादी होनी चाहिये। उसमें बुद्धि की मदाखलत करने की छूट नहीं होनी चाहिए। जब पूरा विचार ही अस्पष्ट है तो उसकी अस्पष्टता उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति में प्रमाणित

होनी चाहिये। जब इस अस्पष्टता में मिलावट आनी शुरू होगी यानी जब अस्पष्ट रूप धीरे-धीरे स्पष्ट होता नजर आयेगा, तब आस्थावानों का धार्मिकपन भी घटने लगेगा।

ईसाई धर्म में 'चमत्कारों' का महत्त्व है। हमारे वैज्ञानिक धर्म में प्रवक्ता उसकी भी हंसी उड़ाते हैं। और बड़े विश्वास के साथ बताते हैं कि हिन्दू धर्म ऐसा धर्म है जो इस बीमारी से दूर है। इस दावे की कोई ऐतिहासिक वास्तविकता नहीं। क्योंकि विज्ञान और विश्वास दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। और बिना विश्वास के कोई धर्म हो नहीं सकता। सो यह बनावटी दावा बेबुनियाद है। चमत्कारों में विश्वास सर्वशक्तिमान ईश्वर में आस्था की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। संसार एक सर्वशक्तिमान सत्ता की सृष्टि है जो प्राकृतिक नियमों से स्वच्छन्द है। यह विश्वास ही धर्म का मूल है। अगर पूर्वग्रहों से मेल बैठाने के लिये आज भी हर हिन्दू चमत्कार में विश्वास न करता होता तो भारत मां का चेहरा अब तक कब का बदल चुका होता।

रामायण और महाभारत की कहानियाँ चमत्कारों से भरी पड़ी हैं। महाकाव्यों के नायक चमत्कारों के पूँजीभूत बने बैठे हैं। यही नहीं कि हिन्दू जनता इन कहानियों पर मात्र विश्वास करती है, बल्कि उनकी सच्चाइयों में शक पैदा करना भी पाप समझा जाता है। यहाँ तक कि आधुनिक बुद्धिवादी इन महाकाव्यों में प्राप्त तथ्यों को साक्ष्य का दरजा देते हैं। इन काव्यों के नायक के चमत्कारी क्रियाकलापों को ज्यों का त्यों मान लिया जाता है और यह मान्यता आम है कि हजारों साल पहले भारत उस वैज्ञानिक और तकनीकी स्तर तक पहुँच चुका था जहाँ आज के वैज्ञानिक भी नहीं पहुँच सके हैं। विकास के लिये जिन सामाजिक शर्तों की ज़रूरत होती है, उनके अभाव में ये काल्पनिक विकास केवल चमत्कारों से ही सम्भव है। योगियों की अलौकिक शक्ति में विश्वास मानना चमत्कारों में विश्वास करना है। आधुनिक बुद्धिवादी भारतीयों

में गिने-चुने लोग ही होंगे, जो मामूली मैजिशियन की जादू-भरी क्रियाओं को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं मानेंगे और किसी प्राकृतिक घटना (जो समझायी न जा सके) में ईश्वर का हाथ नहीं मानेंगे।

हिन्दू जनता में चमत्कारों के प्रति उतनी ही आस्था है, जितनी सौ दो सौ साल पेश्तर क्रिश्चियन्स में पैठी हुई थी। मिसाल के तौर पर शीतला (चेचक की बीमारी) या हैजा की बीमारियों में लोग निदान स्वरूप सफ़ाई या डॉक्टरी ईलाज की जगह पर, कोई न कोई धार्मिक अनुष्ठान करते नजर आयेंगे। जन साधारण में गाँधीजी की आश्चर्यजनक लोकप्रियता कुछ हद तक राजनैतिक चेतना जगाने के सिलसिले में हुई। वह इसीलिये हुई कि जनता में आम धारणा बन गयी कि गाँधीजी उस शक्ति के धनी हैं जो आम आदमी में नहीं पायी जाती—यानी उनके चमत्कार दिखाने की शक्ति में विश्वास। चमत्कारों में विश्वास होने के कारण जन-जीवन में आत्मविश्वास की निहायत कमी पायी जाती है। अगर मध्यकालीन क्रिश्चियनों की भाँति आधुनिक भारतीय चमत्कारों के प्रति इतना मोह न रखते तो अपने हत भाग्य में परिवर्तन लाने की अधिक योग्यता दिखा सकते थे।

उपनिषदों की रहस्यमयी विचारधारा में मौजूद सन्देहशील अंकुरों से प्रेरित हो वैशेषिक और सांख्य दर्शन ने इस खतरनाक प्रश्न को उपस्थित करने की कोशिश की थी—गो कि स्पष्ट रूप से। और नतीजा था बौद्ध नास्तिकवाद जिसके दबाने के लिये वैदिक कट्टरवादी एकदम दौड़ पड़े। शंकराचार्य ने ख़ुद महसूस किया कि उनका वेदान्तसूत्र भाष्य बौद्धवाद और अर्धभौतिक दर्शन, जो कि उसको बनाने के पीछे था, से लड़ने में सफल नहीं होगा। सो उन्होंने अपने ही सिद्धान्तों का विरोध कर एक पर्सनल गॉड पैदा किया। वे संसार को माया बता कर भी धार्मिक सीमाओं को समझ पाने में असमर्थ थे। बेशक वेदान्त का सर्वेश्वरवाद, जिसे तर्कसम्मत बनाया गया है, ख़ुद भौतिकवाद की ओर ले जाता है जैसा

कि किसी भी चरम आदर्शवादी तन्त्र के लिये ज़रूरी है। शंकराचार्य ने उसका तर्कसम्मत हल टाल दिया और ईश्वर को मनुष्य रूप में ढालने के लिये लौट पड़े। यह वापसी तरह-तरह के वाद-विवाद और निराशाजनक व्यग्रता से ढांक दी गयी। जो कुल मिलाकर एक मतब हल करते हैं— अपने आप को धोखे में रखना।

क्रिश्चियनिटी ख़ुद मायावादी दर्शन के फिसलन भरे मार्ग की ओर मुड़ी, जब वह कट्टर धार्मिकता को छोड़कर थियालोजी में उड़ानें भरने लगी। मगर पर्सनल गॉड की दृढ़ विचारधारा की मौजूदगी के कारण वह एक विशुद्ध अध्यात्मवाद की प्रक्रिया थी। पर्सनल गॉड ही वास्तविक ईश्वर है क्योंकि सभी अलौकिक और स्वाभाविक गुण, जो अध्यात्मवाद द्वारा परम तत्त्व में समाहित किये जाते हैं, वे तार्किक तौर पर एक मानवीय ईश्वर की विचारधारा से ही सम्बद्ध किये जा सकते हैं। ईश्वर बनाने वाले ने उसे जैसा पार्ट अदा करने को दिया है (ईश्वर धार्मिक मनुष्य की रचना है) उसमें फिट बैठने के लिये, उसके बिना शर्त आज़ाद होने की सर्वोच्च कल्पना है और उसकी सर्वव्याप्ति उसकी परिमित आज़ादी का ही फल है। दोनों विचारधारायें शक्तिहीन हुए बिना अलग नहीं की जा सकती हैं और वे केवल पर्सनल गॉड में ही वास्तविक रूप धारण कर सकती हैं। ये अलौकिक शक्तियाँ और गुण मात्र अवास्तविकताएँ और कोरी कल्पनाएँ रहेंगी, अगर वे किसी वस्तु के गुण या शक्तियाँ नहीं बतायी जातीं। अर्थात् आध्यात्मिक, अलौकिक या भाववाची श्रेणियों की कल्पना ही तब सम्भव होगी जब वे किसी पर्सनल गॉड में सम्बद्ध होंगी।

एक व्यक्ति जो सीमित वस्तुओं की रचना करने के लिये बेहद आज़ाद हो और वह बिना किसी मैटेरियल के, वास्तव में वह भौतिक पदार्थों की परिधि से दूर और बहुत ऊपर है। (नथिंग) शून्य से सृष्टि सृजन करना ऐसा कार्य है जिससे स्रष्टा ख़ुद बाध्य नहीं। क्योंकि दोनों कार्य कारण

भाव से सम्बद्ध नहीं हैं। पर्सनल गॉड ज़रूरत के वशीभूत होकर सृष्टि नहीं करता है वह केवल अपनी सनक में आकर या ख़ुद की मर्जी से ऐसा करता है जो उसके सर्वव्यापी होने का स्वतः सिद्ध प्रमाण है। उसकी इच्छा का प्रसार असीमित है। चूँकि वह ज़रूरत के आधार पर सृष्टि नहीं करता है, बल्कि अपनी इच्छा से करता है, वह रचना भी कर सकता है और नहीं भी कर सकता है। इस प्रकार किसी भी भौतिक वजूद से सर्वथा स्वतन्त्र है—सर्वथा भावात्मक विशुद्ध अस्तित्व। इसलिये एकेश्वरवादी धर्मों—ईसाई और इस्लाम का पर्सनल गॉड एक बचकानी हरकत नहीं है, न ही आध्यात्मिकहीनता का द्योतक है, बल्कि यह धार्मिक सोच की सर्वोच्च विचारधारा का प्रतीक है। इसमें किन्हीं जटिल सिद्धान्तवादिता के पीछे कोई अस्पष्टता नहीं छिपी है। उसे साहस और आस्था के साथ तर्कसम्मत रूप में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। एक धर्म को धार्मिक पैमाने से नापना चाहिये। अध्यात्मवाद का भी उसी तरह भावना की स्वच्छता और निर्मलता से आकलन करना चाहिये। स्वयं निर्मित धार्मिक विचार समूह जो बिना कट्टरवादिता छोड़े सर्वोच्च स्थान ग्रहण करते हैं वही असली अध्यात्मवाद है। जब तक धर्म, जैसे का तैसा खुले खजाने अपने ही गुण दोषों पर, बिना अपनी अस्पष्टताओं और जटिलताओं से शर्म खाये, बिना अपने जंगली सौष्ठव को छिपाने की ज़रूरत समझे और उसी धोखे में रहते हुए, वैसा का वैसा खड़ा रहता है, तब तक यह माना जायेगा कि वह सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इसके बाद वह मनुष्य जाति की आध्यात्मिक प्रगति को रोकने के लिये एक बनावटी ढाँचा मात्र रह जाता है।

कट्टर एकेश्वरवादी धर्मों के पर्सनल गॉड के शुद्ध आध्यात्मिक विचारों के उलटा, हिन्दू सर्वेश्वरवादी परम तत्त्व इतना आज़ाद नहीं है। अगर वह वाकई निराकार और निर्विकार है तो वह इस सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। लेकिन सम्पूर्ण विश्राम की अवस्था में वह ऐसा कर सकता है।

जब उसकी परम भावनात्मक अवस्था में व्यवधान पड़ता है तब वह घटनामय जगत् में मुखरित हो उठता है। बीज पौधों में बदल जाता है। और स्पिरिट मैटर में तब्दील हो जाती है। यानी भावना भूतों में बदल जाती है। इस प्रकार भाववाची परम तत्त्व कार्यकारण भाव से भौतिक वजूद से बन्ध जाता है। कार्यकारण भाव से दो भिन्न चीज़ों में कभी सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता जब तक उन दोनों में कोई चीज़ उभयनिष्ठ न हो।

सर्वेश्वरवादी स्पिनोजा अपनी फिलासफी की गणितीय संक्षिप्तता के कट्टर तर्कों से मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुँचा कि सुसंगत एकेश्वरवाद अपने में भौतिकवाद के कीटाणु संजोये हुए हैं। सो परम तत्त्व विशुद्ध भाववाची नहीं है, उसमें और भौतिक जगत् में साम्य स्थापित है और जब तक मुखरित नहीं होता पदार्थ उसमें छिपा रहता है। यह कहा जाता है कि एक कार्य के पीछे कोई न कोई इच्छा या कारण छिपा रहता है, सृष्टि सृजन सिद्धान्त यह इच्छा ईश्वर में निहित बताता है। इस तरह वह उसके अपरिमित रूप को सीमित कर देता है और उसे मानव स्तर पर ले आता है। लेकिन थियालोजी और धार्मिक फिलासफी उसे मानवीयता से वस्त्रहीन कर उसका धार्मिक सत्य नष्ट कर देती हैं। ईश्वर धार्मिक व्यक्ति के लिये मानव रूप में अपना वजूद रखने की शक्ति रखता है। भावना प्रधान अलौकिक शक्ति मनुष्यता की सीमाओं से परे है। फिर भी मानवीय है। ईश्वर के विचार को बौद्धिक रूप देने की जिज्ञासा उसे सृजनकारी विशिष्टताओं से वंचित करती है और उसके असली स्वरूप से दूर ले जाती है। यह उसके असली रूप पर राहजनी है।

धर्म मनुष्यता का स्वप्न है। लेकिन स्वप्न में भी हम शून्य या स्वर्ग के क्षेत्र में विचरण नहीं करते। तब भी हम वास्तविकताओं के बीच रहते हैं। सिर्फ़ हम असली चीज़ों को असलियत के तौर पर और ज़रूरत के मुताबिक न देख कर कल्पनाओं में देखते हैं। ईश्वर को धार्मिक

वास्तविकताओं से दूर करने के माने हैं ईश्वर को खत्म कर देना। और ईश्वर को बौद्धिक रूप देकर उसे अलौकिक और रहस्यवादी परम तत्त्व में बदलना जिसका वजूद धार्मिक वास्तविकताओं की शक्ति नहीं रखता, ईश्वर के वजूद को ही नकारना है। क्योंकि ईश्वर की धारणा एक अविवेकपूर्ण धारणा है, धर्म का विवेक के साथ सामंजस्य नहीं हो सकता। ईमानदार धार्मिक व्यक्ति अर्थात् सुसंगत अध्यात्मवादी को पारम्परिक विश्वास से शर्म नहीं खानी चाहिये। उसे अपने को स्वेच्छाचारी विवेक के साथ भटकने से रोकना चाहिये। धर्म को बौद्धिक रूप देना, उसका आधार बदल कर स्थिति ढूँढ़ना विरोधाभास को जन्म देगा और अवरोध के बीहड़ वन में ले जाकर धकेल देगा। ईश्वर की अलौकिक शक्ति की विचारधारा में विवेक को ला खड़ा करना विवाद खड़ा करना है। दूसरी तरफ़ ईश्वर को तर्क देकर वैश्विक भाव मानना, ईश्वर को नकारना है। क्योंकि ऐसा ईश्वर ख़ुद अपने प्रभाव के कारण मनुष्य के विवेक की रचना होगी।

सृष्टि का हिन्दू सर्वेश्वरवादी सिद्धान्त जो सृष्टि के कट्टर धार्मिक सिद्धान्त के ऊपर अपनी अध्यात्मवादी श्रेष्ठता का दावा करता है—या तो चरम तत्त्व को उसके सद्गुणों से ओतप्रोत करता है या सभी सद्गुणों से उसे एकदम नंगा कर देता है। हर हालत में उसे सर्वव्यापी और अपरिमित होने से उसे वंचित कर देता है क्योंकि सृष्टि सिद्धान्त ईश्वर की सृष्टि सम्बन्धी स्वेच्छा को छीन लेता है। वह सिद्धान्त ईश्वर को उस आज़ादी की इजाजत नहीं देता जिससे वह जब चाहे सृष्टि करे और जब चाहे न करे। बल्कि उसकी शुद्ध भावात्मकता से समझौता कर सुविधाजनक स्थिति पैदा करता है। इस मिथ्या सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि ईश्वरेच्छा का नतीजा नहीं है बल्कि यह चरम तत्त्व में छिपी प्रक्रिया से घटना जगत् की उत्पत्ति मानता है। इस प्रकार चरम तत्त्व अभिन्न और शाश्वत रूप में पदार्थ से सम्बद्ध है। वास्तव में पदार्थ ईश्वर के ख़ुद वजूद में छिपा

हुआ है और चरम तत्त्व का शुद्ध भावनात्मक हठ यह मानने को मजबूर करता है कि उसके समानान्तर एक शाश्वत अभावात्मक तत्त्व कीटाणु रूप में मौजूद रहता है।

भौतिक विकास सम्बन्धी किसी प्रक्रिया को कारणस्वरूप चरम तत्त्व की गांरटी मानी जाती है तब सृष्टि सिद्धान्त की कपटपूर्ण कल्पना बेकार हो जाती है। और इस तरह ईश्वर का व्यक्तित्व ही आधा रह जायेगा। क्योंकि वह सृष्टि करने या न करने के लिये फिर भी आज़ाद होगा, लेकिन वह सृजन उसी तत्त्व से करेगा जिसका अस्तित्व उससे अलग है तो फिर वह आज़ाद नहीं होगा। वह सृजन करे तो भी शाश्वत तत्त्व में छिपी प्रक्रिया चलती जायेगी और चरम तत्त्व का कार्य बेमानी हो जायेगा।

इस दुश्वारी को दूर करने के लिये सर्वेश्वरवाद पदार्थ के समानान्तर अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। उसकी साम्य स्पिरिट (भावना) से की जाती है। इस प्रकार सर्वेश्वरवादी सिद्धान्त अस्तित्व के भौतिक और ऐकिक भाव को नष्ट कर देता है। चूंकि भौतिक जगत् की उत्पत्ति उसी से होती है, इसलिये उसे अपने गर्भ में पदार्थ को रखना पड़ेगा। ईश्वर को एक बेबुनियाद का बवाल मानने के लिये या तो द्वैत की समस्या खड़ी करनी होगी या फिर एकता केवल पदार्थीय एकता के रूप में सुरक्षित होगी। यहाँ तक कि सर्वेश्वरवाद की अत्यधिक प्रचुरता मायावाद परम तत्त्व की शुद्ध भावनात्मक गारण्टी नहीं देता गो कि सृष्टि सिद्धान्त में वह पूर्ण निर्धारण छिपाये हुए है। अपने को घटना जगत् में प्रमाणित करने की शक्ति (चाहे वह वास्तविक या मतिभ्रम के रूप में) चरम सीमा में निहित है। इसके माने ये हुए कि उसकी प्रत्येक हरकत नियमों से बन्धी हुई है। वे नियम चरम तत्त्व या सुप्रीम बीइंग के हैं लेकिन नियम नियम ही हैं। कट्टर क़ानूनी तन्त्र में कोई आज़ादी नहीं हो सकती और जो अस्तित्व पूर्ण में निर्धारण के मातहत हैं वह भावनात्मक नहीं हो सकता।

एक मामूली कठिनाई और शेष रह जाती है। अस्तित्व का अर्थ है— उसका स्थान में विस्तार। जो स्थान की सीमाओं को घेरता है वह भावात्मक नहीं हो सकता। उसे ख़ुद होने के लिये समय, स्थान और कार्य-कारण के प्रभाव से मुक्त होना चाहिये। धर्म को इसके मूल अविवेकी रूप से आज़ाद कराने, शून्य से सृष्टि सृजन सिद्धान्त को ढकने, ईश्वर की असीम आज़ादी और स्वेच्छाचारिता से मरहूम करने, इसके बेलगाम होने पर लगाम लगाने, उसे अपमानजनक स्थान पर पहुँचाने, पदार्थ की मातहती न सही तो पूर्ण निर्धारण के नियमों के मातहत खड़ा करने, (जो चरम तत्त्व की परवाह किये बग़ैर अपना काम करते हैं) की कोशिश थियोलोजी और धार्मिक फिलासफी ने सदैव से की है।

ईश्वर को उठा कर शून्य में बदल देना ही नास्तिकवाद है। यहाँ तक कि यह मूर्तिभंजक प्रक्रिया उच्च अध्यात्मवाद का रूप है। आत्मा को बिगाड़ कर पदार्थ तक ले जाना और उसे पूर्व निर्धारण (डिटरमिनिलिज्म) के मातहत करना—अधार्मिकता की पराकाष्ठा है और अध्यात्मवाद को नकारना है गो कि अपने को समाप्त करने की यह विनाशकारी प्रक्रिया भौतिकवाद पर हमले के तौर पर आती है, लेकिन यह एक ज़रूरी प्रक्रिया है। धर्म आवश्यक रूप से थियोलोजी की ओर ले जाता है—(ईश्वर के स्वभाव को समझने की फिजूल की कोशिश) थियोलोजी अपना काम कभी पूरा नहीं कर सकती। ज्योंही आदमी ईश्वर का वर्णन शुरू करता है ईश्वर अपने आप खत्म होने लगता है। इसलिये थियोलोजी का ऐतिहासिक कार्य धर्म के रूप में न रहने देना और उसे नष्ट कर देना है। अपने मूल को नष्ट कर थियोलोजी अपने को ही नष्ट कर देती है। सुसंगत ढंग से विकसित थियालोजी की परिणति सर्वेश्वरवाद में होती है। वैदिक सर्वेश्वरवाद उपनिषदों के ईश्वरवाद का तर्कसम्मत नतीजा है। सर्वेश्वरवादी रूप में थियोलोजी अपने को ही खा जाती है। क्योंकि सुसंगत सर्वेश्वरवाद नास्तिकवाद की ओर ले जाता है।

इस प्रकार वैचारिक विकास की प्रक्रिया अन्तहीन दिशा में चलती रहती है। इसमें कोई एक स्थान नियत नहीं किया जा सकता जिसे पराकाष्ठा कहा जा सके और वहीं रुका जाये। अध्यात्मवादी स्टेज पर पहुँच कर स्पिनोजा और हीगेल की फिलासफी में क्रिश्चियनिटी विलीन हो गयी और बदले में उसकी तर्कसम्मत परिणति आधुनिक भौतिकवादी फिलासफी में हुई। वैदिक सर्वेश्वर का खात्मा भी विश्व संस्कृति के लिये वास्तविक योगदान होगा। ऐतिहासिक कारणों से भारतीय सोच अग्रसर होने में असफल रहा। सामाजिक रुकावट की लम्बी अवधि, जो बौद्ध क्रान्ति की दुर्भाग्यपूर्ण हार के बाद शुरू हुई, हिन्दू सर्वेश्वरवाद को तर्कसम्मत नतीजे पर पहुँचाने से विमुख रही। एक दुर्भाग्य ने क्रमशः दूसरे दुर्भाग्य को जन्म दिया। और भारतीय सोच जहाँ का तहाँ रुका रहा, जब कि दुनिया आगे निकल गयी। ज्योंही यह लम्बी रुकावट टूटेगी भारतीय सोच भी बहुत जल्द आगे बढ़ेगा और उन्नतिशील देशों में बराबरी करने में सफल होगा।

प्रारम्भिक क्रान्तिकारी क्रिश्चियनिटी का पार्ट ख़त्म होने पर, यूरोपीय सोच हजार साल तक रहस्यवाद, सर्वेश्वरवाद, अध्यात्मवाद आदि के झमेलों में उलझा रहा। अन्त में वह दुराचारी वर्ग की पकड़ से आज़ाद हो गया। भारत का यह दुर्भाग्य रहा कि वह मृत अध्यात्मवाद की दमक में बहुत लम्बे अरसे तक लिपटा रहा। अगर वह चाहता है कि वह भी मनुष्यता की प्रगति की दौड़ में शामिल हो, तो उसे भी उस अन्धकार से निकलना होगा। आज दुनिया को उसके रहस्यवादी, सर्वेश्वरवादी अध्यात्मवादी संदेश की ज़रूरत नहीं है। पश्चिमी सभ्यता उस आनन्द का उपभोग कर चुकी है। और अन्त में उसने श्रेष्ठतर उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। भारत को ख़ुद अपनी प्राचीन संस्कृति का सही संदेश सीखना चाहिये। अपने रहस्यमय दर्शन के सही आकलन के माने हैं उसमें निहित भौतिकवादी बीज को अंकुरण देना। अपनी प्राचीन संस्कृति की

व्यावहारिक प्रेरणा पाने के लिये भारत का उससे सार्थक नतीजों को समझना एवम् सीखना होगा जिसका अर्थ होगा धार्मिक सोच को ख़त्म कर वैज्ञानिक ज्ञान को अर्जित करने की प्रेरणा लेना। प्राचीन संस्कृति का सर्वोच्च आकलन कर यह पता लगाना होगा कि वह हमें मृत अध्यात्मवाद के दुराचार से निकलने में कैसे मदद करे जिससे वास्तविक आध्यात्मिक आज़ादी की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त हो।

संस्कृति दर्शन

हमारा सांस्कृतिक दर्प बीसवीं शताब्दी के प्रमुख भारतीय क्रान्तिकारी विचारक मानवेन्द्रनाथ राय के उन निबन्धों के हिन्दी अनुवाद हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है जिनमें राय ने भारतीय परम्परा के आधारभूत दार्शनिक घटकों को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से जाँचने परखने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। पुनर्जन्म, कर्मवाद, आत्मा, रहस्यवादी अनुभूति आदि सभी धारणाओं को वैज्ञानिक और अधुनातन मनोवैज्ञानिक आधारों पर परखने का प्रयास करते हुए राय ने कुछ ऐसे प्रश्न उठाये हैं जिनका उत्तर पाये बिना हम अपनी सांस्कृतिक परम्परा की प्रासंगिकता को सही तौर पर स्थापित नहीं कर पाते।

राय के निबन्धों का यह हिन्दी रूपान्तर निश्चय ही हिन्दी के पाठकों में एक नयी वैचारिक उत्तेजना का वातावरण रच सकेगा।

वाग्देवी पॉकेट बुक्स

वाग्देवी प्रकाशन
बीकानेर
ISBN 81-85127-74-3
मूल्य 25.00 रुपये